उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी

MAJY-505

द्वितीय सेमेस्टर

भारतीय ज्योतिष का परिचय एवं इतिहास-02

मानविकी विद्याशाखा

ज्योतिष विभाग

तीनपानी बाईपास रोड, ट्रॉन्सपोर्ट नगर के पीछे

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल - 263139

फोन नं .05946- 261122 , 261123

टॉल फ्री न0 18001804025

Fax No.- 05946-264232, E-mail- info@uou.ac.in

http://uou.ac.in

अध्ययन बोर्ड - फरवरी 2020

अध्यक्ष
कुलपति, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी

प्रोफेसर देवीप्रसाद त्रिपाठी
अध्यक्ष, वास्तुशास्त्र विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री
राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली।

प्रोफेसर एच.पी. शुक्ल - (संयोजक)
निदेशक, मानविकी विद्याशाखा
उ0मु0वि0वि0, हल्द्वानी

प्रोफेसर विनय कुमार पाण्डेय
ज्योतिष विभागाध्यक्ष, सं0वि0ध0वि संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

डॉ. नन्दन कुमार तिवारी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर एवं समन्वयक, ज्योतिष विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी।

प्रोफेसर रामराज उपाध्याय
अध्यक्ष, पौरोहित्य विभाग, LBS, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम सम्पादन एवं संयोजन

डॉ. नन्दन कुमार तिवारी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर एवं समन्वयक, ज्योतिष विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	खण्ड	इकाई संख्या
डॉ. अशोक थपलियाल असिस्टेन्ट प्रोफेसर, वास्तुशास्त्र विभाग श्रीलालबहादुर राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली	**3**	**1,2,3,4,5**
प्रोफेसर विनय कुमार पाण्डेय ज्योतिष विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी	**4**	**1,2,3,4,5**

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष-2020

प्रकाशक - उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी।

मुद्रकः -

ISBN NO. -

नोट : - (इस पुस्तक के समस्त इकाईयों के लेखन तथा कॉपीराइट संबंधी किसी भी मामले के लिये संबंधित इकाई लेखक जिम्मेदार होगा। किसी भी विवाद का निस्तारण नैनीताल स्थित उच्च न्यायालय अथवा हल्द्वानी सत्रीय न्यायालय में किया जायेगा।)

MAJY-505 - द्वितीय सेमेस्टर
भारतीय ज्योतिष का परिचय एवं इतिहास – 02

अनुक्रम

तृतीय खण्ड – ज्योतिष शास्त्र की उपयोगिता	**पृष्ठ- 2**
इकाई 1: शैक्षणिक क्षेत्र में उपयोगिता	3-24
इकाई 2: मानविकीय क्षेत्र में उपयोगिता	25-58
इकाई 3: समस्याओं के समाधान में उपयोगिता	59-81
इकाई 4: रोग निदान में ज्योतिष की भूमिका	82-109
इकाई 5: रोगोपचार में ज्योतिष का योगदान	110-134
चतुर्थ खण्ड - ज्योतिष शास्त्र एवं भौतिक जगत	**पृष्ठ-135**
इकाई 1: सृष्टि उत्पत्ति के सिद्धान्त	136-149
इकाई 2: प्रलय की अवधारणा	150-162
इकाई 3: विश्व, सौरपरिवार एवं पृथ्वी	163-183
इकाई 4: काल की अवधारणा एवं भेद	184-198
इकाई 5: दिग् व्यवस्था एवं भेद	199-215

एम.ए. ज्योतिष

(MAJY-20)

कोर्स कोड - MAJY-505

द्वितीय सेमेस्टर – प्रथम पत्र

भारतीय ज्योतिष का परिचय एवं इतिहास-02

खण्ड – 3
ज्योतिष शास्त्र की उपयोगिता

इकाई – 1 शैक्षणिक क्षेत्र में उपयोगिता

पाठ संरचना

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 ज्योतिष एवं शिक्षा
1.3.1 ज्योतिषशास्त्र का संक्षिप्त परिचय
1.3.2 शिक्षा का अर्थ व परिभाषा
1.3.3 ज्योतिष एवं शिक्षा का अन्तः सम्बन्ध
अभ्यासप्रश्न
1.4 शिक्षा के क्षेत्र में ज्योतिष
1.4.1 ज्योतिष का शैक्षणिक महत्व
1.4.2 ज्योतिष का शैक्षणिक उपयोग
अभ्यासप्रश्न
1.5 ज्योतिष के शैक्षणिक आयाम
1.5.1 ज्योतिष में शैक्षणिक तत्त्व
1.5.2 शैक्षिक आयाम
अभ्यासप्रश्न
1.6 सारांश
1.7 शब्दावली
1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.10 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री
1.11 नबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना –

प्रस्तुत इकाई एम.ए. ज्योतिष द्वितीय सेमेस्टर के प्रथम पत्र MAJY-505 से सम्बन्धित है। ज्योतिष जीवन को व्यवस्थित ढंग से जीने की कला को विकसित करने में अत्यन्त सहायक है। अतः यह शास्त्र जीवन को व्यवस्थित तथा सुचारू रूप से जीने के लिए कालगणना के साथ –साथ प्राणिमात्र के जीवन में घटित होने वाली शुभाषुभ घटनाओं का पूर्वानुमान कर अषुभत्व के निराकरण करने का प्रयास करता है। जीवन के विविध आयामों यथा शैक्षिक, सामाजिक, धार्मिक, आजीविका आदि का प्रबन्धन सुनियोजित प्रकार से हो, अतः इनके पूर्वानुमान करने हेतु सिद्धान्त की आधारभूमि पर यह शास्त्र ग्रहों की गति–स्थित्यादि को ज्ञातकर तदनुसार फलादेष करता है।

जीवन का एक अन्य महत्वपूर्ण आयाम है शिक्षा। इसके विना जीवन प्रायः अन्धकारमय ही रहता है। शिक्षा जहाँ एक ओर हमें संतुलित एवं व्यवस्थित जीने का ढ़ंग सिखाती है, वहीं दूसरी ओर विवेक एवं बुद्धि के सही प्रयोग हेतु अभिप्रेरित भी करती है। कहा जा सकता है कि यह जीवन प्रबन्धन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहण करती है। समाज को सुसभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा के द्वारा ही समाज में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। जिस कारण समाज को महत्वपूर्ण दिशा देने में शिक्षा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। त्रिस्कन्ध ज्योतिषशास्त्र कालविधान शास्त्र होने के कारण व्यावहारिक शास्त्र भी है, जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध समाज से जुडा हुआ है। अतः समाज में हो रहे परिवर्तनों से यह भी अछूता नहीं रह सकता है।साथ ही शिक्षा से अटूट सम्बन्ध के कारण ज्योतिष शास्त्र शिक्षा के क्षेत्र में होने वाले कार्यो, सुधारों एवं परिवर्तनों पर भी अपना समसामयिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

प्रस्तुत ईकाई में ज्योतिषशास्त्र की शैक्षणिक क्षेत्र में क्या उपयोगिता है? इस विषय में आप ज्योतिषशास्त्र का संक्षिप्त परिचय, ज्योतिषशास्त्र का परिचय, शिक्षाशास्त्र का परिचय, ज्योतिष एवं शिक्षा का अन्तः सम्बन्ध, ज्योतिष का शैक्षणिक महत्व एवं उपयोग,ज्योतिष में शैक्षणिक तत्त्व एवं उसके विविध आयामों का अध्ययन करेंगे।

1.2 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई के अध्ययन से आप –

1. ज्योतिषशास्त्र क्या है और इसका क्या महत्व है? यह जान सकेंगे।
2. शिक्षाशास्त्र का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
3. ज्योतिष एवं शिक्षा के अन्तः सम्बन्ध को जान सकेंगे।
4. शिक्षा के क्षेत्र में ज्योतिष का महत्व के विषय को समझ सकेंगे।
5. ज्योतिष का शैक्षणिक उपयोग को बता सकेंगे।
6. ज्योतिष के शैक्षणिक आयाम को समझ सकेंगे।

7. ज्योतिष में सम्प्राप्त महत्वपूर्ण शैक्षणिक तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

8. ज्योतिष के विविध आयामों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

1.3 ज्योतिष एवं शिक्षा –

किसी भी विषय या शास्त्र का परिचय, अर्थ, परिभाषायें, भेद आदि का संक्षिप्त ज्ञान उसमें प्रवेश करने से पूर्व जान लेने पर विषय प्रवेश में अत्यन्त सुविधा होती है। इसी दृष्टिकोण से विषय प्रवेश से पूर्व ज्योतिष एवं शिक्षा का परिचयादि आपके पूर्व ज्ञान के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है।

1.3.1 ज्योतिषशास्त्र का संक्षिप्त परिचय –

अनेक रहस्यों से युक्त ज्योतिष शास्त्र महासमुद्र है। ब्रह्माण्ड के अनेक तत्त्वों के रहस्योद्घाटन में प्रवृत्त ज्योतिषशास्त्र में ग्रह–नक्षत्र, धूमकेतु, उल्कापात आदि ज्योतिःपदार्थों के स्वरूप, गति, स्थित्यादि एवं मानव जीवन के ऊपर इनके द्वारा पडने वाले शुभाशुभ प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। हमारे ऋषि–महर्षियों एवं पूर्वाचार्यों ने भी ज्योतिःपदार्थों के गति–स्थित्यादि के अतिरिक्त आकाश में घटने वाली ग्रहण जैसी आश्चर्यजनक घटनाओं का भी सतत निरीक्षण करके इनके द्वारा प्राणियों पर पड़ने वाले शुभाशुभ प्रभाव का विश्लेषण कर ज्योतिषशास्त्र के मानक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उनके द्वारा रचित ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्तरूपी अनमोल रत्न ज्योतिषशास्त्र की अमूल्य धरोहर हैं। वैदिक दर्शन की अवधारणा पर आधारित ज्योतिषशास्त्र वेदांग के नेत्र के रूप में

प्रतिष्ठित है।[1] वेदांग ज्योतिष में सभी वेदांगों में इसकी प्रधानता स्वीकार की गयी है।यथा–

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदांगशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्ध्नि संस्थितम्।। [2]

'ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणां बोधकं शास्त्रम्' ज्योतिषशास्त्र की इस व्युत्पत्ति के अनुसार सूर्यादि ग्रह और काल का बोध कराने वाले शास्त्र को ज्योतिषशास्त्र कहते है।[3] वस्तुतः ग्रहनक्षत्रों के विषय में, उनकी गतिविधि एवं प्रभाव के विषय में जो कुछ भी ज्ञान है वह सब ज्योतिष ही है। प्राणियों पर ग्रहादिकों के प्रभाव का अध्ययन कर उसके अनुसार शुभाशुभफलकथन ही ज्योतिष का मुख्य उद्देश्य है। जैसा भास्कर ने भी कहा है –

''ज्योतिश्शास्त्रफलं पुराणगणकैरादेश इत्युच्यते।''[4]

---

1 'वेदचक्षुः किलेदं स्मृतं ज्योतिषम्'। सि. शि. गणिताध्याय मध्य. कालमा. श्लो. 11
2 आर्च ज्यो. श्लो .35
3 भारतीय ज्योतिष– नेमिचन्द्र शास्त्री पृ. 17
4 सिद्धान्त शिरोमणि गोलाध्याय गोलप्रशंसा 6

ज्योतिषशास्त्र के मुख्यतया सिद्धान्त, होरा एवं संहिता ये तीन स्कन्ध है।[5] सिद्धान्तस्कन्ध गणितात्मक है। इसमें मुख्यतया ग्रहों की गति, स्थिति, दिग्देश एवं कालगणनाविषयकी विवेचना प्राप्त होती है।[6] ग्रहों के प्रभाव का अध्ययन कर शुभाशुभफलनिरूपण होरा एवं संहिता का वर्ण्य विषय है। मुख्यतया काल को आधार बनाकर ही फलविवेचन के लिए जन्मकालीन ग्रहों की स्थिति के अनुसार 'कुण्डली' का निर्माण किया जाता है। जन्मकुण्डली के द्वादश भावों में स्थित ग्रहों के परस्परसम्बन्धादि का विचार कर वैयक्तिकफल का विवेचन होरास्कन्ध में किया जाता है। समष्टिगतफल का विवेचन संहितास्कन्ध में प्राप्त होता है। संहितास्कन्ध में शकुन, वास्तुप्रभृति विषय भी आते हैं।[7] इस प्रकार मानव जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं का अध्ययन कर उसे समुचित मार्गदर्शन देना ज्योतिषशास्त्र का मुख्य लक्ष्य है।

भारतीय वैदिक दर्शन में 'कर्मवाद' का महत्वपूर्ण स्थान है। जिसके अनुसार संसार में प्राणी अनवरत कर्म में ही निरत रहता है। वह चाह कर भी इससे अलग नहीं हो सकता है। कर्म करने पर उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है।[8] आत्मा अजर एवं अमर है परन्तु कर्मबन्धन के फलस्वरूप उसे पुनर्जन्म लेना पड़ता है। कर्मबन्धन से मुक्ति केवल तभी मिल सकती है जब मनुष्य को आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान हो जाता है। प्राणी के शुभाशुभकर्मों का फल उसे वर्तमान जीवन में कब, कहाँ और किस रूप में प्राप्त होगा, इत्यादि समस्त जिज्ञासाओं का उत्तर जानने का एकमात्र उपकरण ज्योतिषशास्त्र है। इसका मुख्यकार्य ग्रहनक्षत्रों की गतिस्थित्यनुसार कुण्डली निर्माण कर जातक के जीवन में आने वाले सुख दुःखादि का अनुमान कर उसे अपने कर्तव्यों द्वारा अपने अनुकूल बनाने के लिए प्रेरित करना है। यही प्रेरणा मानव के लिए दुःखविघातक एवं पुरुषार्थसाधक होती है।

1.3.2 शिक्षा का अर्थ व परिभाषा– शिक्ष् शब्द से शिक्षा की उत्पत्ति हुई है। छह वेदांगों में यह एक महत्वपूर्ण वेदांग है जिसके द्वारा शब्दादिकों का उच्चारण प्रकार जाना जाता है।[9]व्यावहारिकरूप में शिक्षा शब्द का अर्थ अधिगम, अध्ययन, ज्ञानग्रहण, निष्णातेच्छा, कार्यकुशलता, अध्यापन, शिक्षण, प्रशिक्षण, विनम्रता आदि है।[10] इस प्रकार शिक्षाशब्द का अभिप्राय भारतीय सन्दर्भ में असीमित हो जाता है।आंग्लभाषा में शिक्षा के लिए एजुकेशन

---

5 सिद्धान्तसंहिताहोरारूपं स्कन्धत्रयात्मकम्।
वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिःशास्त्रमनुत्तमम्।। – नारद संहिता 1/4
ज्योतिषशास्त्रमनेकभेदविषयं स्कन्धत्रयाधिष्ठितम् – बृहत्संहिता उपनयन. 9

6 यथा सिद्धान्तलक्षण – त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलना मानप्रभेदः कमादित्यादि । सि. शि. गणिताध्याय मध्य. कालमा. श्लो. 6

7 तत्कात्स्र्नोपनयनस्यनाममुनिभिः संकीर्त्यते संहिता – बृहत्संहिता उपनयन. 9

8 इस सन्दर्भ में गोस्वामी तुलसीदास का निम्न कथन दर्शनीय है।
कर्मप्रधान विश्व करि राखा। जो जस करिहि सो तस फल चाखा।। श्रीरामचरितमानस

9 वर्णस्वराद्युच्चारण्पकारो यत्रोपदिदश्यते सा शिक्षा – वाचस्पत्यम्

10 संस्कृतहिन्दीकोश– वामनशिवरामआप्टे

शब्द पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है। जिसका सामान्य तात्पर्य शिक्षित करना, बालक की आन्तरिक शक्ति को बाहर प्रकट करने की क्रिया, विकसित करना, बाहर निकलना, अग्रसारण होता है जिसका वास्तविक अर्थ बालक की आन्तरिक शक्तियों को बाहर निकालकर उनका पूर्ण विकास करना है। यह भी पूर्वोक्त भारतीय व्यापक अर्थ को ही दूसरे रूप में प्रतिध्वनित करता है। आप के ज्ञान हेतु शिक्षा के विषय में कुछ विद्वानों के मत दिये जा रहे हैं–

1. रवीन्द्रनाथटैगोर के मतानुसार हमारे जीवन की सभी समस्याओं का समाधान हेतु शिक्षा राजपथ के सदृश है।

2. विवेकानन्द कहते हैं कि शिक्षा मानव के अन्दर निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति को विकसित करती है।

3. महात्मा गांधी का कथन है कि बालक एवं मानव के शरीर, मस्तिष्क एवं आत्मा की सर्वोत्तम अंश की अभिव्यक्ति ही शिक्षा है।

4. प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री डॉ. सर्वपल्लीराधाकृष्णन शिक्षा को व्यक्ति एवं समाज की निर्मात्री कहते हैं।

5. डम्बिल महोदय के अनुसार शिक्षा के व्यापक अर्थ में वे सभी प्रभाव जुडे हुए हैं जो व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त प्रभावित करते हैं।

6. एस.एस. मेकेन्जी का अभिमत है कि व्यापक अर्थ में शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो आजीवन चलती रहती है। साथ ही जीवन के प्रत्येक अनुभव से इसमें वृद्धि होती है।

वस्तुतः मानवजीवन में कर्तव्याकर्तव्य का बोध सत्यासत्यविवेक आत्मज्ञान वैयक्तिककौशलादि गुणों का विकास शिक्षा के द्वारा ही सम्भव होता है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि रूप से सक्षम व सन्तुष्ट हो सकता है। मानव की उन्नति एवं सभ्यता की प्रगति ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है।

शिक्षा का प्रादुर्भाव प्राणियों की चेष्टा से आरम्भ होता है। मानव अपने पुत्रादिकों की मानसिक शारीरिकादि अभ्युन्नति हेतु बाल्यकाल से ही उन्हें शिक्षा प्रदान करता है। यह शिक्षा प्राणिमात्र की सहजक्रिया है। अतः न केवल मनुष्य अपितु सभी प्राणी अपनी सन्ततियों को जीवन जीने की शिक्षा देते रहते हैं। मनुष्य की यह विशिष्टता है कि वह विवेकशील होने के कारण शिक्षा को अपने शुद्ध, परिष्कृत एवं नवाचार रूप में अपने सन्तानों को प्रदान करने का प्रयास करता है। शिक्षा जन्म से मृत्यु पर्यन्त अनवरत रूप से चलने वाली प्रक्रिया है। जिससे बालक का सर्वांगीण विकास हो सके।

संकुचित अर्थ में शिक्षा का तात्पर्य विद्यालयी शिक्षा से है। इस रूप में बडे बुजुर्ग पूर्व निश्चित योजना के अनुसार बालक के समक्ष विशिष्ट नियन्त्रित वातावरण प्रस्तुत करते हैं, जिसमें निश्चित विधि से निश्चित कालक्रम में निश्चित ज्ञान बालक प्राप्त करता है। जिससे उसका मानसिक विकास होता है। वस्तुतः इस शिक्षा के माध्यम से पुस्तकीय ज्ञान

ही प्राप्त होता है। इससे हमारी शक्ति, विकास व उन्नति चेतनापूर्वक की जाती है। इससे बालक का ज्ञान, व्यवहार व चरित्र एक विशिष्ट आकार में स्थापित हो जाता है।

सम्प्रति संकुचित एवं व्यापक दोनों ही अर्थों से ग्राह्य शिक्षा मानवजीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इसलिए कहा गया है कि –

विद्या नाम नरस्य कीर्तिरतुला भाग्यक्षये चाश्रयो
धेनुः कामदुघा रतिश्च विरहे नेत्रं तृतीयं च सा।
सत्कारायतनं कुलस्य महिमा रत्नैर्विना भूषणं
तस्मादन्यमुपेक्ष्य हेतुविषयं विद्याधिकारं कुरु।। [11]

अर्थात् विद्या मनुष्य को अत्यन्त यश दिलाने वाली है। भाग्य के कमजोर होने पर भी यह आश्रय प्रदान करने वाली है। यह कामना पूर्ण करने वाली गौ के समान कामधेनु है। यह विरहावस्था में भी मन बहलाकर आनन्द देने वाली है। यह मनुष्य के लिए तृतीय नेत्र के समान है, जो हमेशा खुली रहती है। यह घर एवं बाहर सम्मान दिलाने वाली है। साथ ही यह कुल की महिमा को बढाने वाली विना रत्नों का ही आभूषण है। अतः अन्य विषयों की उपेक्षा कर सभी के कारणभूत इस विद्या को अपने अधिकार में करो।

1.3.3 ज्योतिष एवं शिक्षा का अन्तः सम्बन्ध – शिक्षा का मुख्य उद्देश्य किसी भी शास्त्र के सम्यक् अध्ययन में सहायता प्रदान करना है। शिक्षा सम्प्रेषण एवं अधिगम प्रक्रिया को सरल बनाकर अध्यापक एवं छात्र के कौशलवृद्धि में सहायता करता है। ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन एवं अध्यापन अन्य शास्त्रों से कुछ भिन्न है। ज्योतिष के मानक ग्रन्थों में शिक्षा में प्रयुक्त होने वाली विधियां एवं प्रविधियां लाक्षणिकरूप में वर्णित है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ज्योतिषशास्त्र में शिक्षा स्वयं ही सन्निहित है। आधुनिकशिक्षाशास्त्री अध्यापन में जिन प्रविधियों को प्रायः नवीन स्वरूप में देखते हैं, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट ही परिलक्षित होता है कि उन प्रविधियों का मूल भारतीयशास्त्रों में ही छिपा हुआ है।

हमारी भारतीय परम्परा में वेदरूपी पुरूष की नासिका शिक्षा को माना जाता है। वेदों के नयन के रूप में ज्योतिषशास्त्र सुप्रतिष्ठित ही है।[12] यदि इन दोनों अंगों आँख एवं नाक पर ध्यान दे तो नासिका एवं चक्षु के मध्यम परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट ही दिखाई देता है। यदि नाक में कोई विकार आता है तो सबसे पहले उसका प्रभाव आँखों पर पडता है। कफ, शीत इत्यादि के कारण नाक पर पडने वाला प्रभाव नेत्रों पर भी दिखाई देता है। क्योंकि इन दोनों के नसों के मध्य परस्पर सम्बन्ध है। इसी प्रकार नासिका का मुख से भी गहरा सम्बन्ध है। नाक के द्वारा जब भोजन की सुगन्ध ली जाती है तो स्वतः ही मुख से लाररूप में पानी आ जाता है। शरीरविज्ञान के दृष्टिकोण से भी मुख एवं नाक का परस्पर घनिष्ठ

---

[11] उद्धृत सि.शि.गणि.त्रिप्र.श्लोक13–17 वासनाभाष्यम्

[12] छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।
– पाणिनीयशिक्षा श्लोक–41/42

सम्बन्ध स्पष्ट ही है। वेदरूपी पुरुष का मुख व्याकरण अथवा भाषा विज्ञान है। इस वेदमुख रूपी व्याकरण (भाषा विज्ञान) का नाकरूपी शिक्षा से अभिन्न सम्बन्ध है क्योंकि सम्यक् सम्प्रेषण व अधिगम के लिए शुद्ध लेखन, पठन, शब्दों के अर्थ का अवबोध आदि आवश्यक है। तभी शिक्षा का प्रयोजन सफल होगा। इसीलिए व्याकरण का ज्ञान भी आवश्यक है। जैसे कि भास्कराचार्य जी ने भी कहा है –

यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यग्ब्राह्मया स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम्।
यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य धीमान् शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी।।[13]

अर्थात् जो वेद के मुख अर्थात् व्याकरण को जान लेता है, वह सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय को जान लेने में सक्षम है। फिर अन्य शास्त्रों का तो कहना ही क्या? अतः बुद्धिमान् को सर्वप्रथम इसका अध्ययन प्राप्त करना चाहिए। तभी वह अन्य शास्त्र को सुनने का अधिकारी होता है।

वस्तुतः भाषा ज्ञान के बिना शिक्षक व छात्र परस्पर संवाद करने में सक्षम नही हो सकते। भाषा ज्ञान के पश्चात् ही शिक्षा का प्रारम्भ होता है।

ज्योतिश्शास्त्र के मूर्धन्य आचार्यों का शिक्षण प्रविधि के प्रतिपादन में महत्वपूर्ण अवदान है। यद्यपि परम्परागत भारतीय शिक्षण पद्धति के अनुसार उनकी शिक्षा पद्धति भी मुख्यरूप से व्याख्यान शैली पर ही आश्रित थी, परन्तु उनके ग्रन्थों का सूक्ष्म अध्ययन करने से कुछ नूतन विचार भी अवश्य ही प्राप्त होते हैं। जिसमें विषयवस्तु स्पष्टता होना, उद्देश्य कथन, अव्यावहारिक, विवादित एवं व्यर्थ बातों को पाठ्यक्रम में स्थान न देना, आदर्श शिक्षक के गुण, शिष्य परीक्षण, विषय शिक्षण में भाषा प्रयोग आदि महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार निःसन्देह ज्योतिष एवं शिक्षा परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। यदि ज्योतिषशास्त्र में निर्देशित शिक्षा का प्रयोग आधुनिक शैक्षणिक संस्थानादिकों में किया जाय तो निश्चित रूप से सकारात्मक परिणाम प्राप्त हो सकते हैं।

अभ्यासप्रश्न

1. ज्योतिषशास्त्र किसे कहते है?
2.ज्योतिषशास्त्र के कितने स्कन्ध हैं?
3. भारतीय वैदिक दर्शन में किस 'वाद' का महत्वपूर्ण स्थान है?
4. व्यावहारिकरूप में शिक्षा शब्द का अर्थ क्या है?
5. स्वामी विवकानन्द के अनुसार शिक्षा क्या है?
6. शिक्षा के द्वारा क्या सम्भव है?
7. संकुचित अर्थ में शिक्षा का तात्पर्य किससे है?
8. शिक्षा, व्याकरण और ज्योतिष वेदपुरुष के कौन कौन से अंग हैं?

13 सिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्याय गोलप्रशंसा श्लोक –8

1.4 शिक्षा के क्षेत्र में ज्योतिष – शिक्षा का समुचित प्रबन्धन ज्ञानप्राप्ति को सरल, सुगम एवं सुबोधगम्य बना देता हैं। ज्योतिष शास्त्र के मानक ग्रन्थों में यद्यपि शैक्षिक प्रबन्धन के मूल उद्देश्यों को लेकर कोई चर्चा नहीं की गई है, किन्तु इनमें यत्र तत्र प्रकीर्ण तत्व अवश्य ही ज्योतिष शास्त्र में शैक्षिक प्रबन्धन को परिलक्षित करते हैं। यहाँ शैक्षिक प्रबन्धन के कुछ मूलतत्वों पर ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से विचार करने का प्रयास किया जा रहा है।

1.4.1 ज्योतिष का शैक्षणिक महत्व –

ज्योतिष जीवन को व्यवस्थित ढंग से जीने की कला को विकसित करने में अत्यन्त सहायक है। अतः यह शास्त्र जीवन को व्यवस्थित तथा सुचारू रूप से जीने के लिए कालगणना के साथ –साथ प्राणिमात्र के जीवन में घटित होने वाली शुभाषुभ घटनाओं का पूर्वानुमान कर अषुभत्व के निराकरण करने का प्रयास करता है। जीवन के विविध आयामों यथा शैक्षिक, सामाजिक, धार्मिक, आजीविका आदि का प्रबन्धन सुनियोजित प्रकार से हो, अतः इनके पूर्वानुमान करने हेतु सिद्धान्त की आधारभूमि पर यह शास्त्र ग्रहों की गति–स्थित्यादि को ज्ञातकर तदनुसार फलादेष करता है।

अपने पूर्वानुमान के प्रयोजन को सिद्ध करने हेतु यह शास्त्र होरा एवं संहिता के रूप में व्यक्ति के व्यष्टिगत एवं समष्टिगत फल को निरूपित करता है। ज्योतिषशास्त्र का फलादेश कथन निश्चितरूप से शैक्षणिक गतिविधियों में सहायक सिद्ध हो सकता है। सर्वप्रथम कुण्डली के अनुसार बालक की रुचि, मेधाशक्ति, उसकी आजीविका की दिशा इत्यादि पर विचार कर उसे तदनुरूप शिक्षा प्रदान की जाय, तो निश्चित रूप से वह आत्मविश्वास से परिपूर्ण होकर सम्यक् प्रकार से कार्यनिष्पादन कर पायेगा। अतः बालक की रुचि इत्यादि के अनुसार उसे रुचि अनुकूल वातावरण उपलब्ध करा कर उसे सही दिशा दे सकते हैं। उसे तकनीकी ज्ञान प्राप्त करना है या चिकित्सकीय ज्ञान अथवा शोध करना है? इत्यादि विषयों को जानने में ज्योतिष शास्त्र अत्यन्त सहायक है। इस शास्त्र के ज्ञान से मनुष्य भावी सुख– दुःखादि का ज्ञान कर अपने पौरुष से उसे अनकूल बना सकता है। यह शास्त्र मनोवैज्ञानिक रूप से उसे दुःखादि अशुभ परिस्थितियों को झेलने में सम्बल प्रदान करता है। इस प्रकार प्राणीमात्र पर पडने वाले शुभाशुभ प्रभाव का अध्ययन कर फलकथन करना एवं मानव जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं का अध्ययन कर उसे समुचित मार्गदर्शन देना ही ज्योतिष शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। जातक की अभिरुचि, दक्षता, स्वभावादि का विश्लेषण करके उसे भावी जीवन में अपने कार्यक्षेत्र का चुनाव करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। अतः इस शास्त्र की लोकोपयोगिता को द्योतित करते हुए आचार्य कल्याणवर्मा का कथन है –

अर्थार्जने सहाय पुरुषाणामापदर्णवे पोतः।
यात्रासमये मन्त्री जातकमपहाय नास्त्यपरः।।[14]

14 सारावली होराशब्दनिरूपणाध्याय 5

अर्थात् यह शास्त्र धनार्जन में सहायक, आपत्तिरूपी समुद्र में नाव के समान, यात्रा के समय मन्त्री के समान है। अतः जातक शास्त्र (ज्योतिष)के समान कोई दूसरा शास्त्र सहायक नही है।

इस शास्त्र के संहिता खण्ड में सिद्धान्त एवं होरा गत विषयों के अतिरिक्त अन्य समस्त विषयों का समावेष हो जाता है। इस कारण ज्योतिष्षास्त्र का संहिता खण्ड सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। संहिता को परिभाषित करते हुए आचार्य वराहमिहिर का निम्नलिखित कथन इसके बृहत्कायत्व को प्रमाणित करता है –

तत्कात्स्न्योपनयस्य नाम मुनिभिः संकीर्त्यते संहिता।। इति।[15]

इस प्रकार संहिता खण्ड के बृहत् कलेवर में आधुनिक भूगोलशास्त्र, भूगर्भविज्ञान, आन्तरिक्षविज्ञान, स्वरषास्त्र, शकुनषास्त्र, वास्तुकला, षिल्पकला, आलेखन, हस्तरेखाविज्ञान, भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि का समावेष हो जाता है। जिसमें जीवन के विविध आयामों के प्रबन्धन के तत्व स्पष्टतः परिलक्षित हो जाते हैं।

ज्योतिष शास्त्र में प्राचीन शिक्षण विधियां प्रायः देखी जाती हैं। यथा – व्याख्या विधि, पारायण विधि, कण्ठस्थीकरणविधि, सूत्रविधि, प्रश्नोत्तरविधि, शास्त्रार्थविधि, कथाकथनविधि, वादविवादविधि, चर्चाविधि, मौखिकज्ञानविधि, पर्यटन विधि, वेधशाला द्वारा परीक्षण विधि इत्यादि। इसके अलावा भी आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों द्वारा कही गयी ह्यूरिस्टिक, प्रत्यक्ष, प्रायोजना, समस्या, आगमन–निगमन, विश्लेषण–संश्लेषण, निरीक्षण, क्रीडा द्वारा ज्ञान प्राप्त करना जैसी विधियां भी ज्योतिष शास्त्र के मानकग्रन्थों में सूक्ष्म रूप से प्राप्त हो जाती हैं। वस्तुतः आधुनिक शिक्षा शास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित विधियां विद्यालय स्तर पर छात्रों के अधिगम हेतु अध्यापकों को सम्प्रेषण कला से युक्त करने के लिए है। जबकि शास्त्र का स्पष्ट रूप से अधिगम विद्यालयी शिक्षा के बाद ही प्राप्त किया जाता है। फिर भी ज्योतिषशास्त्र में प्रयुक्त प्रविधियों को यदि शैक्षणिक क्षेत्र में उपयोग किया जाय तो निश्चित रूप से लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

1.4.2 ज्योतिष का शैक्षणिक उपयोग – ज्योतिष का शैक्षणिक क्षेत्र में इस प्रकार से उपयोग लिया जा सकता है–

1. बालक की कुण्डली का सम्यक् अध्ययन के पश्चात् उसकी रूचि, मेधा शक्ति, आजीविका इत्यादि का विचार कर उसे अध्ययनादि हेतु सही दिशा दी जा सकती है।
2. बालक की ग्रहदशादि के अनुसार सम्भावित विपरीत परीक्षा परिणाम को जानकर उसे अधिक परिश्रम हेतु अभिप्रेरित किया जा सकता है।
3. बालक के ग्रहदशादि के अनुसार मानसिक तनाव में आने पर उसे इस तनाव को झेलने के लिए दृढ बनाने हेतु ज्योतिषीय उपचार भी किया जा सकता है। इस प्रकार ज्योतिष काउन्सलिंग भी कर सकता है।

15 बृ.सं. उपनयना. 9

4. ज्योतिषशास्त्र मनोविज्ञान से भी जुडा हुआ है। अतः मनोवैज्ञानिक तरीके से बच्चे को नियन्त्रित करने में भी यह शास्त्र महत्वपूर्ण सहायक सिद्ध हो सकता है।

5. बालक/बालिकाओं के शारीरिक या मानसिक परिवर्तनों में भी ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान उनके लिए सहायक सिद्ध हो सकता है। कुण्डली अध्ययन के पश्चात् उन्हें सकारात्मक सोच दी जा सकती है।

6. बालक को कब शिक्षा दी जाय? एतदर्थ उपर्युक्त काल का चयन ज्योतिष के माध्यम से किया जा सकता है।

7. शिक्षा में बाधक तत्त्वों का ज्ञान एवं उनके समाधान में भी ज्योतिष महत्वपूर्ण सहयोग दे सकता है।

8. शिक्षाचयन में अधिक विकल्प होने पर ज्योतिष द्वारा काउन्सलिंग की जा सकती है।

9. वास्तुशास्त्र ज्योतिषशास्त्र का ही एक अंग माना जाता है। विद्यालय भवन यदि वास्तुसम्मत बनाये जायें तो अध्यापक एवं छात्र दोनों का ही सम्प्रेषण व अधिगम अधिक प्रभावशाली हो सकता है।

10. वास्तुसम्मत अध्ययन कक्ष में अध्ययन करते समय यदि पूर्व या उत्तर मुख हो तो सकारात्मकता में वृद्धि की जा सकती है।

11. ज्योतिषशास्त्र मात्र फलादेश पद्धति को ही प्रतिपादित नहीं करता। अपितु इसमें भूगोलविज्ञान, खगोलविज्ञान, गणितशास्त्र, सृष्टिविज्ञान, भूगर्भविज्ञान, शिल्प, आलेखन कला आदि अनेक विषय मूलरूप में विद्यमान हैं। यह शास्त्र अनेक प्राचीन विज्ञान एवं कलाओं का अद्भुत सम्मिश्रण है। जिनका उपयोग छात्रों को अपने गौरवशाली इतिहास से परिचित कराने के साथ ही इन विज्ञान एवं कलाओं को आगे बढाने में भी किया जा सकता है।

12. इस शास्त्र के संहिता खण्ड में अश्व, गज, छाग आदि के लक्षण कहे गये हैं। जो पशुविज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। जिनकी जानकारी इस क्षेत्र के विद्यार्थियों के लिए लाभप्रद होगी।

13. ज्योतिषशास्त्र स्वयं अध्ययन एवं अध्यापन की कई महत्वपूर्ण विधियों एवं उनके प्रयोग के तरीकों को भी बताता है। इनका उपयोग शिक्षण कक्षाओं में करने से निश्चित रूप से अध्ययन– अध्यापन सुदृढ होगा।

14. इसमें वृष्टिविज्ञान, आयुर्विज्ञान, सुगन्धिनिर्माण विज्ञान, रत्न विज्ञान, अंगलक्षणविज्ञान आदि कई महत्वपूर्ण विषय भी हैं जो इन क्षेत्रों के विद्यार्थियों के लिए लाभप्रद हो सकते हैं।

15. इस शास्त्र के अध्येताओं के लिए भी आजीविका के क्षेत्र में कई सम्भावनायें हैं।

वस्तुतः ज्योतिष शास्त्र शैक्षणिक संस्थाओं के निर्माण, सज्जा, रख–रखाव से लेकर छात्रों, अध्यापकों एवं अन्य कर्मचारियों को गतिशील, ऊर्जावान् एवं तनावरहित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। साथ ही पाठ्यक्रम सम्बन्धी एवं पाठ्येतर क्रियाकलापों के लिए भी महत्वपूर्ण सुझाव दे सकता है। इस प्रकार ज्योतिष शास्त्र का शैक्षणिक उपयोग इसके प्रत्येक क्षेत्र में किया जा सकता है। यह बालकों एवं अध्यापकों की

अधिगम एवं सम्प्रेषण, रुचि, मेधाशक्ति, आजीविका जैसी समस्याओं के निराकरण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

अभ्यास प्रश्न –

11 संहिता खण्ड के बृहत् कलेवर में कौन कौन से विज्ञान आते हैं?
12. बालक की कुण्डली के अध्ययन से क्या क्या विचार किया जा सकता है? जिससे उसे अध्ययन हेतु सही दिशा मिल सके।
13. वास्तुसम्मत अध्ययन कक्ष में अध्ययन करते समय मुख किस दिशा में शुभ होता है?
14. वास्तुशास्त्र किस शास्त्र का एक अंग माना जाता है?
15. ज्योतिष शास्त्र में प्रयुक्त किन्हीं 5 प्राचीन शिक्षण विधियों को लिखिए?
16. अश्व, गज, छाग शब्दों के पर्यायवाची लिखिए।

1.5 ज्योतिष के शैक्षणिक आयाम –

ज्योतिष शास्त्र के शैक्षणिक आयामों पर यद्यपि संक्षिप्त रूप में कुछ चर्चा हो चुकी है परन्तु आपके विस्तृत अध्ययन के लिए ज्योतिष में शैक्षणिक तत्त्व तथा शैक्षिक आयामों को विस्तार से यहाँ पर बताया जा रहा है–

1.5.1 ज्योतिष में शैक्षणिक तत्त्व –

शिक्षा का समुचित प्रबन्धन ज्ञानप्राप्ति को सरल, सुगम एवं सुबोधगम्य बना देता हैं। ज्योतिष शास्त्र के मानक ग्रन्थों में यद्यपि शैक्षिक प्रबन्धन के मूल उद्देश्यों को लेकर कोई चर्चा नहीं की गई है, किन्तु इनमें यत्र तत्र प्रकीर्ण तत्व अवश्य ही ज्योतिष शास्त्र में शैक्षिक प्रबन्धन को परिलक्षित करते हैं। प्रस्तुत लेख में शैक्षिक प्रबन्धन के कुछ मूलतत्वों पर ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से विचार करने का प्रयास किया जा रहा है।

1. समय का अनुपालन – शैक्षिक प्रबन्धन का एक महत्वपूर्ण स्तम्भ है समय का अनुपालन। समय के अनुपालन के विना शिक्षाप्राप्ति में बाधाएं आ जाती है। ज्योतिषशास्त्र तो स्वयं कालगणना का शास्त्र है। जीवन में घटित होने वाली घटनाओं का सही आकलन तभी सम्भव है जब समय के सूक्ष्मावयवों की सही गणना हो सकेगी। वेदोक्त यज्ञ यागादि को करने के लिए भी समुचित समय की आवश्यकता होती है। अतः आचार्य भास्कर कहते हैं –

वेदास्तावद्यज्ञकर्मप्रवृत्ताः यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।।[16]

यदि समय का अनुपालन न करते हुए वेदोक्त यज्ञादि का अनुष्ठान गलत समय पर किया जाय तो वह गर्हित एवं अशुभ फल देने वाला होता है। अतः हमारे संस्कारों, व्रत

16 सि.शि.गणि.म.काल.श्लो.9

– पर्वोत्सवों एवं अन्य क्रियाकलापों में समय का अनुपालन आवश्यक है। इसलिए ज्योतिषशास्त्र में मुहूर्तशोधन एक महत्वपूर्ण कार्य है। अतः स्पष्ट है कि कालगणना करने वाला ज्योतिषशास्त्र समय के अनुपालन को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानता है। जो शैक्षिक प्रबन्धन हेतु अत्यन्त आवश्यक है।

2. कर्तव्यनिष्ठ एवं योग्य व्यक्तियों का चयन – शैक्षिक प्रबन्धन हेतु कर्तव्यनिष्ठ व योग्यव्यक्तियों का चयन आवश्यक है। सूर्यसिद्धान्त के अनुसार मय ने ज्योतिष के परम रहस्य को जानने के लिए भगवान सूर्य की आराधना की –

अल्पावशिष्टे तु कृते मयो नाम महासुरः।
रहस्यं परमं पुण्यं जिज्ञासुर्ज्ञानमुत्तमम्।।
वेदांगमग्र्यमखिलं ज्योतिषां गतिकारणम्।
आराधयन् विवस्वन्तं तपस्तेपे सुदुश्चरम्।।[17]

बृहत्संहिता के सांवत्सरसूत्राध्याय में आचार्य वराहमिहिर सुयोग्य सांवत्सरिक (ज्योतिषज्ञ) के लक्षणों का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि –

तस्माद्राज्ञाधिगन्तव्यो विद्वान् सांवत्सरोऽग्रणीः।
जयं यशः श्रियं भोगान् श्रेयश्च समभीप्सता।। [18]

अर्थात् जय, यश, लक्ष्मी, भोग एवं श्रेय की इच्छा रखने वाले राजा को विद्वान् व श्रेष्ठ ज्योतिषी के पास जाना चाहिए।

इसी प्रकार ज्ञानवान् व योग्य व्यक्ति किसी भी सम्प्रदाय, जाति या सामाजिक पृष्ठभूमि वाला क्यों न हो? उसका सम्मान होना चाहिए। उसकी योग्यता पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता है। अतः वराहमिहिर का कथन है कि –

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद्द्विजः।।[19]

वराहमिहिर ने अयोग्य एवं ज्ञानरहित व्यक्ति को महत्व देने वाले तथा उसका संरक्षण करने वाले की भी कडी निन्दा की है –

अविदित्वैव यः शास्त्रं दैवज्ञत्वं प्रपद्यते।
स पंक्तिदूषकः पापो ज्ञेयो नक्षत्रसूचकः।।
नक्षत्रसूचकोद्दिदष्टमुपवासं करोति यः।
स व्रजन्त्यन्धतामिस्रं सार्धमृक्षविडम्बिना।।[20]

17 सूर्य सिद्धान्त मध्यमा. 2–3
18 बृ.सं. सांवत्सरसू. 26
19 बृ.सं. सांवत्सरसू.30
20 बृ सं सांवत्सरसू. 32–33

3. पाठ्यक्रम – शैक्षिक प्रबन्धन का महत्वपूर्ण कार्य पाठ्यक्रम बनाना तथा उसका सही प्रकार से क्रियान्वयन करना भी है। सर्वप्रथम पाठ्यक्रम किस प्रकार होना चाहिए? इस सन्दर्भ में आचार्य भास्कर का निम्न कथन प्रेरणास्पद है –

......नो संक्षिप्तं न च बहुवृथा विस्तरः शास्त्रतत्त्वम्।
लीलागम्यः सुललितपदः प्रश्नरम्यः स यस्मात्.......।।[21]

उपर्युक्त वचनानुसार पाठ्यक्रम न तो बहुत संक्षिप्त हो, न अधिक विस्तृत ही हो। उसमें शास्त्रों का तत्त्व अर्थात् प्रामाणिक ज्ञान हो। पाठ्यक्रम इस प्रकार का हो कि वह छात्रों के लिए शीघ्रबोधगम्य हो, क्लिष्ट न हो। पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तकों में प्रयुक्त शब्दावली सुन्दर एवं पढने में ललित हों। साथ ही सुन्दर बोध–अभ्यासादि प्रश्नों से युक्त हो।

4. शिक्षण पद्धति – शैक्षिक प्रबन्धन का एक आयाम शिक्षण पद्धति भी है। पाठ्यक्रम को किस पद्धति के अनुसार पढाया जाय? यह आज एक बडी समस्या दिखाई देती है। ज्योतिषशास्त्र के मानकग्रन्थों में वर्णित विषयों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रायः प्रश्नोत्तर पद्धति वहाँ मान्य है, जिसमें प्रश्नों के उत्तर के रूप में व्याख्यान पद्धति का भी आश्रय लिया जाता है। परन्तु परम्परागत इस शिक्षण पद्धति के अतिरिक्त भी आगमन–निगमन विधि, ह्यूरिस्टिकविधि, विश्लेषण–संश्लेषण विधि, प्रायोजना विधि आदि आधुनिक विधियों का भी समावेश ज्योतिषशास्त्र के मानक ग्रन्थोां में दृष्टिगोचर हो जाता है। वस्तुतः ज्ञात ज्ञान से अज्ञात ज्ञान को जानना, सूत्र से उदाहरण को समझना, प्रयोगशाला में दृश्योपकरणों का प्रयोग, यन्त्रों के प्रयोग से प्रायोगिक ज्ञान करना आदि बातें ज्योतिष शिक्षण में प्राचीन काल से ही दिखाई देती रही है। प्राचीन काल से ही ज्योतिष शिक्षण पद्धति की विशेषता ही यह रही है कि उपलब्ध ज्ञान की प्रामाणिकता को प्रत्यक्ष रूप से परीक्षण कर पुष्ट किया जाय। मतभिन्नता होने पर उसे सकारण प्रस्तुत करना, ज्योतिष के व्याख्याता ऋषि महर्षियों व आचार्यो की सुदृढ परम्परा रही है। शास्त्रार्थ पद्धति के उद्भव का कारण भी यही है। इसी कारण अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हो सका। अतः आज के परिप्रेक्ष्य में भी शिक्षण पद्धति किसी एक विधि पर आश्रित न होकर अनेक विधियों से युक्त होनी चाहिए। छात्रों को स्वयं सोचने व करने के लिए भी प्रेरित किया जाना चाहिए। उनकी स्मृतिशक्ति के विकास के लिए जहाँ उनको याद करने (पाठ की आवृत्ति करने) की क्षमता में अभिवृद्धि आवश्यक है, वहीं दूसरी ओर उनको याद किये गये पाठों को स्वयं समझने हेतु प्रेरित किया जाना चाहिए।

5. परीक्षा प्रणाली – परीक्षा प्रणाली किस प्रकार की हो ? जिससे छात्र का समुचित मूल्यांकन हो सके। एतदर्थ प्राचीन शिक्षा प्रणाली में बारम्बार शिष्य की परीक्षा के निर्देश मिलते हैं। आज परीक्षा प्रणाली में प्रायः सीमित व निर्धारित, समय एवं पाठ्यक्रम के अनुसार

21 सि.शि. गोलाध्याय गोलप्रशंसा श्लो. 4

ही प्रश्न पूछे जाते हैं। परन्तु प्राचीन शिक्षा प्रणाली में अधीत ज्ञात का प्रायोगिक तथा तत्सम्बन्धी अन्य विषयों का आवश्यकतानुसार परीक्षा ली जाती थी। इसी कारण ज्योतिषशास्त्र के प्राचीन मानक ग्रन्थों में भी शिष्यों के सुपरीक्षित होने पर ही विशेष ज्ञान प्रदान करने की बात कही गई है। यथा सूर्यसिद्धान्त –

रहस्यमेतद्देवानां न देयं यस्य कस्यचित्।
सुपरीक्षितशिष्याय देयं वत्सरवासिने।।[22]

यहाँ सुपरीक्षित का तात्पर्य द्वेषभावना, कृतघ्न, दुराचार, कम समय तक साथ रहने वाले अशिष्यों के इतर शिक्षार्थियों से है। आचार्य भास्कर द्वितीय भी कहते हैं –

दिव्यं ज्ञानमीन्द्रियं यदृषिभिब्रह्मवसिष्ठादिभिः
पारम्पर्यवशाद्रहस्यमवनीं नीतं प्रकाश्यं ततः।
नैतद्द्वेषिकृतघ्नदुर्जनदुराचाराचिरावासिनां
स्यादायुःसुकृतक्षयो मुनिकृतां सीमामिमामुज्झतः।। [23]

यद्यपि आज प्रयुक्त होने वाली शिक्षा प्रणाली के अनुसार उपर्युक्त बातें अनुचित प्रतीत हो रही हैं, परन्तु यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो आज जीवनमूल्यों में ह्रास का मुख्य कारण इन बातों की अवहेलना ही है। आज सीमित समय व पाठ्यक्रम के अनुसार लिखित या मौखिक परीक्षा अधीत ज्ञान का परीक्षण कम एवं औपचारिकता अधिक रह गई है। गुरुद्वेषी, कृतघ्न, दुर्जन एवं दुराचारी व्यक्ति येन केन प्रकारेण विशेष उच्च शिक्षा प्राप्त कर उसका सदुपयोग कम एवं दुरुपयोग अधिक करता है। जो समाज एवं देश के लिए कई बार घातक सिद्ध होता है। सामान्य शिक्षा पर सबके अधिकार की बात प्राचीन काल से ही रही है। परन्तु ऐसा विशेष ज्ञान, जिनका दुरुपयोग समाज के लिए नासूर बन सकता है, उसको देने से पहले भी छात्र का मूल्यांकन अवश्य होना चाहिए। यद्यपि आज की प्रवेश परीक्षा इसी उद्देश्य से की जाती है परन्तु उसमें जीवनमूल्यों एवं नैतिकता से सम्बन्धित परीक्षा भी सम्मिलित होनी चाहिए।

6. कक्षोपकरण – वर्तमान समय में अधिकांशतः कक्षों में अध्ययन व्यवस्था रहती है। फलतः शैक्षिक प्रबन्धन में कक्ष व्यवस्था तथा उसके लिए उपकरण व्यवस्था भी महत्वपूर्ण हैं। आज भौतिकसंसाधनों की आवश्यकता अधिक अनुभव की जाती है। परन्तु प्राचीन शिक्षा प्रणाली में आवश्यकतानुरूप कहीं पर भी अध्ययन अध्यापन होता था। ज्योतिषशास्त्र में कक्षोपकरण के रूप में विविध यन्त्रों के निर्माण एवं प्रयोगविधि मिलती है। सिद्धान्त ग्रन्थों में प्रायः यन्त्राध्याय का वर्णन इसी दृष्टिकोण से किया जाता रहा है। परन्तु होरा एवं संहिता गत विषयों को समझने के लिए प्रकृति ही कक्षोपकरण के रूप में दिखाई देती है। अस्तु । नवीन शिक्षा प्रणाली के प्रभावानुसार आज परम्परागत शास्त्र शिक्षण में भी कक्षोपकरणों का

22 सू.सि. छेद्यकाधि. 24
23 सि.शि.गोला.छेद्यका. 9

प्रयोग होने लगा है। ज्योतिषशिक्षण में संगणक, दूरबीन इत्यादि उपकरणों का उपयोग वस्तुतः सराहनीय है।

7. छात्रों में अनुशासन – शैक्षिक प्रबन्धन का एक महत्वपूर्ण सोपान है छात्रों में अनुशासन स्थापित करना। ज्योतिषशास्त्र छात्रों में स्वतः अनुशासन का समर्थक रहा है। स्वतः अनुशासन स्थापित करने हेतु रचनात्मक कार्यों में छात्रों को संलग्न करते हुए उन्हें व्यस्त रखना आवश्यक है। शिक्षण करते समय यदि अध्यापक अपनी भाषा को लालित्यमय बनाते हुए सरल व सुबोधगम्य तरीके से ज्ञान का सम्प्रेषण करता है तो अवश्य ही छात्र स्वतः अनुशासित रहते हैं। अतः छात्रों में अनुशासन स्थापित करने में अध्यापक की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। शिक्षण के समय भाषा किस प्रकार की हो? इस विषय का दिग्दर्शन आचार्य भास्कर के निम्न वचन से मिल जाता है –

......चतुरप्रीतिप्रदां प्रस्फुटां संक्षिप्ताक्षरकोमलामलपदैर्लालित्यलीलावतीम्। [24]

कोमलबुद्धि के छात्रों के लिए आनन्द देने वाली चातुर्यपूर्ण वाणी में संक्षिप्त अक्षरों से युक्त अर्थात् व्यर्थ वाक् जाल न फैलाकर छात्रों को आसानी से समझ में आने वाले सरल शब्दावली का प्रयोग, कोमल अर्थात् कर्णप्रिय मृदुध्वनियुक्त, अमलपद अर्थात् शुद्ध व स्पष्ट समझ में आने वाली शब्दावली का प्रयोग, लालित्यमय अर्थात् माधुर्यगुणयुक्त ऐसी वाणी जिसमें छात्र आत्मीयता का अनुभव कर सकें तथा लीलायुक्त अर्थात् हास परिहास व खेल खेल में अध्ययन हो जाय, ऐसी भाषा का प्रयोग होना चाहिए।सम्भवतः इसी कारण हमारे शास्त्रों के मानक ग्रन्थ प्रायः छन्दोबद्ध रचे गये हैं। इसी प्रकार पढाते समय सुन्दर बोधप्रश्नादि का भी समावेश होना चाहिए। जिससे छात्र द्वारा अधीत ज्ञान का पुनः स्मरण एवं अध्यापक को छात्रों के ज्ञानग्रहण की क्षमता का भी परीक्षण होता रहता है। अतः भास्कराचार्य का निम्न वचन भी प्रेरणास्पद है।

लीलागम्यः सुललितपदः प्रश्नरम्यः स यस्मात्.......।।सि.शि. गोलाध्याय गोलप्रशंसा श्लो. 4

कई बार कक्षाएं छात्रों के लिए निरन्तर एकरसता होने के कारण बोझिल हो जाती हैं, तब विषयान्तर कर कुछ मनोरंजन किया जाना चाहिए। इसका उत्तम उदाहरण भास्कराचार्य की सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय में मिलता है। जहाँ आचार्य गणित एवं यन्त्र परिज्ञान जैसे गूढ विषय के तुरन्त बाद ऋतुवर्णन करते हुए कहते हैं –

ऋतुवर्णनव्याजादीषदेषा प्रदर्शिता।
कविता तद्विदां प्रीत्यै रसिकानां मनोहराः।।[25]

छात्रों को यदि कोई विषयवस्तु स्पष्ट न हो रही हो तो उसे दुबारा अन्यविधि के प्रयोग से समझाना चाहिए। साथ ही कक्षा के अन्त में उपसंहार रूप में अधीतज्ञान का

24 लीलावती मंगलाचरण 1
25 सि.शि. गोला. ऋतुवर्णन 12

संक्षिप्तवर्णन अवश्य करना चाहिए। इसका दिग्दर्शन ज्योतिषग्रन्थों में स्पष्ट मिल जाता है।यथा सूर्यसिद्धान्त में ज्यौतिषोपनिषदध्याय एवं मानाध्याय वर्णित है।

इस प्रकार ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ज्योतिषशास्त्र में शैक्षिक प्रबन्धक के मूल आधार स्पष्ट ही परिलक्षित होने लगते हैं। वस्तुतः ज्ञान शाश्वत रहता है। उसको वर्णित करने का तरीका भिन्न हो सकता है, परन्तु मूलसंकल्पनाएं बनी रहती हैं। इसीलिए सूर्यसिद्धान्त में सूर्यांश पुरूष कहता है कि –

शृणुष्वैकमनाः पूर्वं यदुक्तं ज्ञानमुत्तमम्।
युगे युगे महर्षीणां स्वयमेव विवस्वता।।
शास्त्रमाद्यं तदेवेदं यत्पूर्वं प्राह भास्करः।
युगानां परिवर्तेन कालभेदोऽत्र केवलः।। [26]

वस्तुतः उपर्युक्त वचन वेदों को ज्ञान का मूलकोश स्वीकारने की अवधारणा को पुष्ट करते हुए ''यन्निहास्ति न तत्क्वचित्'' इस उक्ति को चरितार्थ करता है। जब वेद अखिलज्ञान का मूल है तो उसके नेत्ररूपी अंग ज्योतिषशास्त्र में उन तत्वों का पाया जाना आश्चर्यजनक नहीं है।

1.5.2 शैक्षिक आयाम – आप पढ़ चुके हैं कि ज्योतिष और शिक्षा परस्पर सम्मिश्रित हैं। वस्तुतः ज्योतिषशास्त्र केवल शिक्षा की प्रविधियों को ही प्रायोगिक रूप से अभिव्यक्त नही करता है अपितु अपने ग्रह, राशि, भाव, दशा में भी कुछ शैक्षिक आयामों को समेटे हुए है। इन्हीं आयामों में से कुछ का दिङ्निर्देश प्रस्तुत है[27] –

1. शरीर की प्रकृति एवं प्रवृत्ति के नियामक ग्रह– ज्योतिषशास्त्र में शरीर की प्रकृति, जो मुख्यतः वात, कफ एवं पित्त द्वारा नियन्त्रित है, का नियामक भी ग्रहों व राशियों को माना गया है। बृहज्जातक के अनुसार सूर्य पित्तप्रकृति, चन्द्र वातकफप्रकृति, मंगल पित्तप्रकृति, बुध वातपित्तकफ, गुरु कफप्रकृति, शुक्र वातकफप्रकृति तथा शनि वात प्रकृति का है।[28] बली ग्रहों के स्वभावानुसार ही जातक का स्वभाव भी बनता है, जिससे वह तद्विषयक कर्म की ओर प्रवृत्त भी होता है। इसी प्रकार जन्म के समय चन्द्र की राशि के अनुसार भी जातक के स्वभाव कहे गये हैं।[29] इसी प्रकार कालपुरुष के आत्मादि अंगों एवं राजादि विभाग के रूप में ग्रहों का वर्णन मिलता है जिसमें सूर्य कालपुरुष की आत्मा व राजा, चन्द्र मन एवं राजा, मंगल सत्त्व अर्थात् बल एवं सेनापति, बुध वाणी एवं राजकुमार, गुरु ज्ञान व सुख एवं मन्त्री, शुक्र काम एवं मन्त्री तथा शनि दुःख एवं सेवक के रूप में वर्णित है।[30] इससे स्पष्ट है कि ग्रहों की जन्मकालिक स्थिति, गोचरकालिक स्थिति तथा दशा के अनुसार जातक के

---

26 सूर्य सि. मध्यमा. 8–9
27 प्राच्यविद्यापरिशीलनम् पृ.213
28 बृहज्जातक ग्रहशीलाध्याय श्लोक 08–11
29 बृहज्जातक राशीशीलाध्याय
30 बृहज्जातक ग्रहशीलाध्याय श्लोक 01

शरीर की प्रकृति एवं प्रवृत्ति होती है। अतः बालक की कुण्डली के विश्लेषण उपरान्त उसकी रुचि, प्रवृत्ति आदि को जाना जा सकता है।

2. बुद्धि एवं शिक्षा का विचार – ज्योतिषशास्त्र में जिसमें चतुर्थ भाव बुद्धि तथा पंचम भाव विद्या का है। परन्तु इन भावों के स्वामी तथा कारकग्रह की स्थिति के अनुसार भी शिक्षा का विचार किया जाता है। अतः ग्रहस्थित्यनुसार अन्यभाव भी शिक्षा के कारक हो सकते हैं। अतः ज्योतिषीय विश्लेषण के उपरान्त बालक की बुद्धि एवं शिक्षा का विचार कर उसे तदनुसार शिक्षा प्रदान की जा सकती है।

3. भाव, राशि एवं ग्रहों की स्थिति व सम्बन्ध से शिक्षा विचार – ज्योतिषशास्त्र में शिक्षा प्राप्ति के अनेक योगायोग कहे गये हैं जिनसे जातक की शिक्षा के विषय में जाना जा सकता है। ग्रह अपने उच्च, मित्र, स्वगृह, शत्रुगृह,नीच स्थाना आदि की स्थिति के अनुसार भी शुभाशुभ फल प्रदान करते हैं। वस्तुतः ग्रहों के अपने स्वभाव, राशियों के गुणधर्मिता, कारक एवं भावेश, ग्रहों की भाव एवं राशि में स्थिति, दृष्टि आदि अनेक पक्षों का विश्लेषण करने के उपरान्त ही जातक की शिक्षा पर पूर्वानुमान प्रस्तुत किया जाता है।

4. गोचर एवं दशा से शिक्षा विचार – जातक की शिक्षा प्राप्ति कब होगी? यह जानने के लिए उसकी जन्मराशि से गोचरग्रहस्थिति अर्थात् तात्कालिक ग्रहस्थिति तथा ग्रहदशा का विचार किया जाता है। एतदर्थ ज्योतिषशास्त्र में अनेक प्रकार से विचार किया गया है।

इस प्रकार ज्योतिष जातक के नैसर्गिकगुणों की पहचान कर, उन गुणों के विपरीत निर्णय पर अंकुश लगाते हुए जीवन की यथार्थता का परिचय प्रदान करता है। साथ ही काल्पनिक उड़ान पर नियन्त्रण करते हुए उचित समय पर उचित निर्णय में सहयोग प्रदान करता है। जातक के सभी गुण दोषों का ज्ञान जातक के जन्म समय की ग्रहस्थिति के विश्लेषण करने पर ही सम्भव है। अतः ज्योतिषविद्या उचित मार्ग निर्देश देकर शिक्षा क्षेत्र के चयन में सहयोग तथा अनावश्यक भटकाव से रोकती है।[31]

अभ्यास प्रश्न –

17. धार्मिक मान्यता के अनुसार समय का अनुपालन किस किस कार्य में आवश्यक है?
18. सूर्यसिद्धान्त के अनुसार ज्योतिष ज्ञान हेतु सूर्य की तपस्या किसने की थी?
19. **म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्। ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद्द्विजः।।** यह कथन किसका है? तथा किस ग्रन्थ में प्राप्त होता है?
20. पाठ्यक्रम की क्या विशेषता होनी चाहिए?
21. ग्रहों की पित्तादिप्रकृति बताइए।
22. लग्नादि द्वादश भावों से विचारणीय विषय कौन कौन से हैं?

1.6 सारांश –

31 प्राच्यविद्यापरिशीलनम् पृ.215

प्रस्तुत ईकाई में सर्वप्रथम आपने ज्योतिष एवं शिक्षा क्या है? इसे जानने के लिए ज्योतिषशास्त्र का संक्षिप्त परिचय प्राप्त किया। जिसमें आपने जाना कि ग्रहनक्षत्रों के विषय में, उनकी गतिविधि एवं प्रभाव के विषय में जो कुछ भी ज्ञान है वह सब ज्योतिष ही है। प्राणियों पर ग्रहादिकों के प्रभाव का अध्ययन कर उसके अनुसार शुभाशुभफलकथन ही ज्योतिष का मुख्योद्देश्य है। जिसके सिद्धान्त, होरा एवं संहिता ये तीन स्कन्ध है। सिद्धान्तस्कन्ध गणितात्मक है। ग्रहों के प्रभाव का अध्ययन कर शुभाशुभफलनिरूपण होरा एवं संहिता का वर्ण्य विषय है। तदनन्तर शिक्षा का व्यापक एवं संकुचित दोनों अर्थों एवं विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी शिक्षा की परिभाषा से आप अवगत हुए। इसके बाद ज्योतिष एवं शिक्षा का अन्तः सम्बन्ध अत्यन्त प्रगाढ़ है, यह आपने जाना।

तत्पश्चात् शिक्षा के क्षेत्र में ज्योतिष के अवदान को जानने के लिए आपने ज्योतिष का शैक्षणिक महत्व एवं उपयोग को समझा। जिसमें आपने जाना कि ज्योतिष शास्त्र शैक्षणिक संस्थाओं के निर्माण, सज्जा, रख–रखाव से लेकर छात्रों, अध्यापकों एवं अन्य कर्मचारियों को गतिशील, ऊर्जावान् एवं तनावरहित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। साथ ही पाठ्यक्रम सम्बन्धी एवं पाठ्येतर क्रियाकलापों के लिए भी महत्वपूर्ण सुझाव दे सकता है। इसके बाद ज्योतिष में शैक्षणिक तत्त्व एवं शैक्षिक आयाम उपशीर्षकों के अन्तर्गत आपने जाना कि ज्योतिष कर्त्तव्यबोध, अनुशासन आदि महत्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डालते हुए शिक्षा को रुचिकर बनाने में अपना सहयोग तो देता ही है। साथ ही जातक के नैसर्गिकगुणों की पहचान कर, उन गुणों के विपरीत निर्णय पर अंकुश लगाते हुए, जीवन की यथार्थता का परिचय प्रदान करते हुए, उचित समय पर उचित निर्णय में सहयोग प्रदान करता है। हमारा मानना है कि आप इस ईकाई के अध्ययन से ज्योतिष शास्त्र की शैक्षणिक उपयोगिता से भलीभांति परिचित हो गये होंगे।

1.7 शब्दावली –

रहस्योद्घाटन में प्रवृत्त – गुप्त विषयों को खोलने में लगना
सतत निरीक्षण – लगातार देखते रहना
शुभाशुभफलकथन – शुभ या अशुभ फलादेश कहना
वैयक्तिकफल – प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग अलग फलादेश
समष्टिगतफल – सामूहिक रूप से फलादेश
अनवरत – लगातार
निरत – लगे रहना
दुःखविघातक – दुःख का नाश करने वाला
पुरुषार्थसाधक – पौरुष या बल से अभीष्ट फल प्राप्त करना
निष्णातेच्छा – कार्यकुशल होने की इच्छा
अभिव्यक्ति – अच्छे प्रकार से व्यक्त करना, कहना

कर्तव्याकर्तव्य – करने योग्य कार्य एवं न करने योग्य कार्य
सत्यासत्यविवेक – सत्य और असत्य का निर्णय लेने की क्षमता
प्रादुर्भाव – उत्पत्ति, पैदा होना
सहजक्रिया – अपने आप चलने वाली क्रिया
नवाचार – नये नये प्रयोग
सम्यक् – ठीक प्रकार से
सन्निहित – अच्छे प्रकार से रखना
परिलक्षित – दिखाई देना
नासिका – नाक
चक्षु – आंख
सम्प्रेषण व अधिगम – अध्यापन एवं अध्ययन की प्रक्रिया
अवबोध – ज्ञान
समुचित प्रबन्धन – ठीक प्रकार से प्रबन्ध करना
प्रकीर्ण – बिखरे हुए, छूटे हुए
आयामों – पहलुओं
आजीविका – रोजगार
मेधाशक्ति – बुद्धि
द्योतित – प्रकाशित करना, बताना
समावेष – मिला हुआ
बृहत्कायत्व – बडा शरीर
कलेवर – शरीर
छाग – बकरा
अध्येताओं – अध्ययन करने वालों
पाठ्येतर क्रियाकलाप – पाठ्यक्रम के अलावा अन्य क्रिया कलाप जैसे खेलनाकूदना
गर्हित – पाप या घृणास्पद
क्लिष्ट – कठिन
कृतघ्न – उपकार न मानने वाला
संगणक – कम्प्यूटर
लालित्यमय – आनन्द देने वाली रचना जिससे मन भावविभोर हो जाये
कर्णप्रिय – कानों को अच्छी लगने वाली
मृदुध्वनियुक्त – कोमल आवाज से जुडा हुआ
अमलपद – स्वच्छ पद या शब्दों से युक्त

गूढ – गम्भीर
शाश्वत – हमेशा रहने वाला
मूलसंकल्पना – बुनियादी ढांचा या परिकल्पना
नैसर्गिक – प्राकृतिक, अपने आप, स्वतः

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर –

1. सूर्यादि ग्रह और काल का बोध कराने वाले शास्त्र को ज्योतिषशास्त्र कहते है। वस्तुतः ग्रहनक्षत्रों के विषय में, उनकी गतिविधि एवं प्रभाव के विषय में जो कुछ भी ज्ञान है वह सब ज्योतिष ही है।
2. ज्योतिषशास्त्र के मुख्यतया सिद्धान्त, होरा एवं संहिता ये तीन स्कन्ध है।
3. भारतीय वैदिक दर्शन में 'कर्मवाद' का महत्वपूर्ण स्थान है।
4. व्यावहारिकरूप में शिक्षा शब्द का अर्थ अधिगम, अध्ययन, ज्ञानग्रहण, निष्णातेच्छा, कार्यकुशलता, अध्यापन, शिक्षण, प्रशिक्षण, विनम्रता आदि है।
5. स्वामी विवकानन्द के अनुसार शिक्षा मानव के अन्दर निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति को विकसित करती है।
6. मानवजीवन में कर्तव्याकर्तव्य का बोध सत्यासत्यविवेक आत्मज्ञान वैयक्तिककौशलादि गुणों का विकास शिक्षा के द्वारा ही सम्भव होता है।
7. संकुचित अर्थ में शिक्षा का तात्पर्य विद्यालयी शिक्षा से है।
8. शिक्षा, व्याकरण और ज्योतिष वेदपुरुष के नासिका, मुख एवं नेत्र हैं।
9. ज्योतिष के होरा एवं संहिता स्कन्ध व्यक्ति के व्यष्टिगत एवं समष्टिगत फल को निरूपित करते हैं।
10. जातकशास्त्र की प्रशंसा में कल्याणवर्मा का कथन है कि यह शास्त्र धनार्जन में सहायक, आपत्तिरूपी समुद्र में नाव के समान, यात्रा के समय मन्त्री के समान है। अतः जातक शास्त्र (ज्योतिष)के समान कोई दूसरा शास्त्र सहायक नही है।
11 संहिता खण्ड के बृहत् कलेवर में आधुनिक भूगोलशास्त्र, भूगर्भविज्ञान, आन्तरिक्षविज्ञान, स्वरषास्त्र, शकुनषास्त्र, वास्तुकला, षिल्पकला, आलेखन, हस्तरेखाविज्ञान, भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि आते हैं।.
12. बालक की कुण्डली का सम्यक् अध्ययन के पश्चात् उसकी रूचि, मेधा शक्ति, आजीविका इत्यादि का विचार कर उसे अध्ययनादि हेतु सही दिशा दी जा सकती है।
13. वास्तुसम्मत अध्ययन कक्ष में अध्ययन करते समय मुख पूर्व या उत्तर दिशा में शुभ होता है।
14. वास्तुशास्त्र ज्योतिषशास्त्र का ही एक अंग माना जाता है।

15. ज्योतिष शास्त्र में प्रयुक्त 5 प्राचीन शिक्षण विधियां व्याख्या विधि, कण्ठस्थीकरणविधि, सूत्रविधि, प्रश्नोत्तरविधि, शास्त्रार्थविधि हैं।

16. अश्व अर्थात् घोडा, गज अर्थात् हाथी, छाग अर्थात् बकरा

17. धार्मिक मान्यता के अनुसार समय का अनुपालन षोडश संस्कारों, व्रत, पर्व, उत्सवों एवं अन्य क्रियाकलापों में आवश्यक है।

18. सूर्यसिद्धान्त के अनुसार ज्योतिष ज्ञान हेतु सूर्य की तपस्या मय ने की थी।

19. वराहमिहिर का बृहत्संहिता ग्रन्थ में।

20. पाठ्यक्रम न तो बहुत संक्षिप्त हो, न अधिक विस्तृत ही हो। उसमें शास्त्रों का तत्त्व अर्थात् प्रामाणिक ज्ञान हो। पाठ्यक्रम इस प्रकार का हो कि वह छात्रों के लिए शीघ्रबोधगम्य हो, क्लिष्ट न हो। पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तकों में प्रयुक्त शब्दावली सुन्दर एवं पढने में ललित हों। साथ ही सुन्दर बोध–अभ्यासादि प्रश्नों से युक्त हो।

21. सूर्य पित्तप्रकृति, चन्द्र वातकफप्रकृति, मंगल पित्तप्रकृति, बुध वातपित्तकफ, गुरु कफप्रकृति, शुक्र वातकफप्रकृति तथा शनि वात प्रकृति का है।

22. लग्नादि द्वादश भावों से मुख्य रूप से क्रमशः शरीर, धन व कुटुम्ब, पराक्रम व अनुज, माता व बुद्धि, विद्या व सन्तति, शत्रु व रोग, पत्नी, मृत्यु, धर्म व भाग्य, कर्म व पिता, आय तथा व्यय का विचार किया जाता है।

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1. बृहज्जातक – आचार्य वराहमिहिर – चौखम्भा संस्कृत प्रकाशन, वाराणसी

2. प्राच्यविद्यापरिशीलन – प्रो. रामचन्द्रपाण्डेय– नैसर्गिक शोध संस्था, 38 मानसनगर, वाराणसी

3.सिद्धान्तशिरोमणि – आचार्य भास्कर द्वितीय– चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी

4. सूर्यसिद्धान्त– मयासुरसूर्यसंवाद– चौखम्भासंस्कृत सीरिज, वाराणसी

5. भारतीय ज्योतिष– शंकर बालकृष्णदीक्षित– उत्तरप्रदेशसाहित्यसंस्थान, लखनऊ

6. भारतीय ज्योतिष– नेमिचन्द्र शास्त्री – भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली

7. वाचस्पत्यम् – आचार्य ताराचन्द्र वाचस्पति– तिरुपति

8. संस्कृतहिन्दीकोश– वामनशिवरामआप्टे– नाग प्रकाशन दिल्ली

9. नारदसंहिता – नारदमुनि – चौखम्भा संस्कृत प्रकाशन, वाराणसी

10. बृहत्संहिता – आचार्य वराहमिहिर– चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी

11 पाणिनीयशिक्षा – आचार्य पाणिनी– चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी[1]

12. सारावली – आचार्य कल्याण वर्मा– चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी

13. लीलावती – आचार्य भास्कर –चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी

14. वेदांग ज्योतिष – आचार्य लगध – चौखम्भा संस्कृत प्रकाशन, वाराणसी

1.10 सहायक / उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. श्रीरामचरितमानस – तुलसीदास – गीताप्रेस गोरखपुर
2. ज्योतिष शिक्षण – आचार्य नागेन्द्र झा – दिल्ली
3. शास्त्रमीमांसा शोधपत्रिका –राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान भोपालपरिसर,भोपाल
4. राष्ट्री पत्रिका –राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान भोपालपरिसर,भोपाल
5. शिक्षाशोधसुमांजलि शोधपत्रसंग्रह पुस्तक –राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान, भोपालपरिसर,भोपाल

1.11 निबन्धात्मक प्रश्न–

1. ज्योतिषशास्त्र का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. शिक्षा का अर्थ बतलाते हुए विद्वानों के द्वारा दी हुई शिक्षा की परिभाषाओं का वर्णन कीजिए।
3 ज्योतिष एवं शिक्षा के अन्तः सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए इनका महत्व बताईये।
4. शिक्षा के क्षेत्र में ज्योतिष का योगदान बताते हुए इसका शैक्षणिक महत्व लिखिए।
5. ज्योतिष का शैक्षणिक उपयोग पर निबन्ध लिखिए।
6. ज्योतिष के शैक्षणिक आयामों पर प्रकाश डालिए।
7. ज्योतिष में सन्निहित शैक्षणिक तत्त्वों का सुविस्तृत वर्णन कीजिए।

इकाई – 2 मानविकीय क्षेत्र में उपयोगिता

पाठ संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 मानविकी एवं ज्योतिष

2.3.1 मानिविकी का अर्थ एवं परिभाषा

2.3.2 मानिविकी का क्षेत्र

2.3.3 ज्योतिष एवं मानिविकी का अन्तः सम्बन्ध

अभ्यासप्रश्न

2.4 विविध मानविकी विषयों में ज्योतिष

2.4.1 भाषा विज्ञान एवं ज्योतिष

2.4.2 साहित्य एवं ज्योतिष

2.4.3 कानून एवं ज्योतिष

2.4.4 इतिहास एवं ज्योतिष

2.4.5 दर्शन एवं ज्योतिष

2.4.6 धर्म एवं ज्योतिष

अभ्यास प्रश्न

2.4.7 दृश्य कला एवं ज्योतिष

2.4.8 संगीत एवं ज्योतिष

2.4.9 नृत्य एवं ज्योतिष

2.4.10 अभिनय कलाएवं ज्योतिष

2.4.11 चित्रकला एवं ज्योतिष

2.4.12 पाककला एवं ज्योतिष

2.4.13 कामकला एवं ज्योतिष

अभ्यासप्रश्न

2.5 ज्योतिष के मानविकी उपयोग

अभ्यासप्रश्न

2.6 सारांश

2.7 शब्दावली

2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.10 हायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

2.11 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना –

प्रस्तुत ईकाई MAJY-505 के द्वितीय इकाई से सम्बन्धित है। इसके अध्ययन हेतु आपका स्वागत है। इससे पूर्व की ईकाई में ज्योतिषशास्त्र की शैक्षणिक क्षेत्र में क्या उपयोगिता है? इस विषय में आपने ज्योतिषशास्त्र का संक्षिप्त परिचय, ज्योतिषशास्त्र का परिचय, शिक्षाशास्त्र का परिचय, ज्योतिष एवं शिक्षा का अन्तः सम्बन्ध, ज्योतिष का शैक्षणिक महत्व एवं उपयोग,ज्योतिष में शैक्षणिक तत्त्व एवं उसके आयामों का अध्ययन किया।

आप जानते हैं कि त्रिस्कन्ध ज्योतिषशास्त्र कालविधान शास्त्र होने के साथ ही व्यावहारिक शास्त्र भी है, जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानव एवं उसके समाज से जुडा हुआ है। अतः मानव एवं समाज में हो रहे परिवर्तनों से यह भी अछूता नहीं रह सकता है। साथ ही मानवपरकशास्त्र होने के कारण ज्योतिष शास्त्र मानविकी के क्षेत्र में होने वाले कार्यो, सुधारों एवं परिवर्तनों पर भी अपना समसामयिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

अतः प्रस्तुत ईकाई में मानविकी क्षेत्र में ज्योतिष की उपयोगिता को समझने के लिए सबसे पहले आप मानिविकी का अर्थ एवं परिभाषा, मानिविकी का क्षेत्र , ज्योतिष एवं मानिविकी का अन्तः सम्बन्ध को जानेंगे। फिर विविध मानविकी विषयों में ज्योतिष की भूमिका को जानने हेतु भाषा विज्ञान, साहित्य, कानून, इतिहास, दर्शन, धर्म, दृश्य व अभिनय कला, नृत्य, संगीत, चित्रकला, पाककला एवं कामकला का ज्योतिष से सम्बन्धों पर चर्चा की जायेगी। अन्त में ज्योतिष के मानविकी उपयोग पर विस्तृत रूप से विचार किया जायेगा, जिससे मानविकी क्षेत्र में ज्योतिष का महत्व एवं उपयोगिता परिलक्षित हो सके।

2.2 उद्देश्य –

प्रस्तुत ईकाई के अध्ययन से आप –

1. मानिविकी का अर्थ एवं परिभाषा जान सकेंगे।
2. मानिविकी के क्षेत्र के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
3. ज्योतिष एवं मानिविकी का अन्तः सम्बन्ध को जान सकेंगे।
4. मानविकी के क्षेत्र में ज्योतिष का महत्व के विषय को समझ सकेंगे।
5. विविध मानविकी विषयों में ज्योतिष की भूमिका को बता सकेंगे।
6. ज्योतिष के मानविकी उपयोग को समझ सकेंगे।

2.3 मानविकी एवं ज्योतिष –

आप जानते ही हैं कि संहिता खण्ड के बृहत् कलेवर में भूगोलशास्त्र, भूगर्भविज्ञान, आन्तरिक्षविज्ञान, स्वरशास्त्र, शकुनशास्त्र, वास्तुकला, शिल्पकला, आलेखन, हस्तरेखाविज्ञान, भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि का समावेश है। जिनका मानव जीवन में विशेष महत्त्व है, जो ज्योतिषशास्त्र के महत्त्वपूर्ण सहायक है। इस प्रकार मानव से सम्बन्धित प्रायः प्रत्येक पहलू पर ज्योतिषशास्त्र अपना दृष्टिकोण एवं परामर्श प्रस्तुत करता है। मानव से सम्बन्धित प्रायः सभी पहलुओं का अध्ययन मानविकी के अन्तर्गत आता है। मानविकी क्या है? इसके अन्तर्गत कौन कौन से क्षेत्र आते हैं? इत्यादि जानने हेतु आइए निम्नलिखित अध्ययन करते हैं।

2.3.1 मानिविकी का अर्थ एवं परिभाषा –

'मनोरपत्यम् मनोर्गोत्रापत्यं वा पुमान्'[32] मनु की सन्तान को मानव कहा जाता है।महाभारत में भी कहा गया है कि –

मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत्।

ब्रह्मक्षत्रादयस्तस्मान्मनोर्जातास्तु मानवाः।। [33]

मानव से सम्बन्धित जो भी विषय हैं, वे सब मानविकी हैं। वस्तुतः इस अर्थ में मानव जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक पहलू चर्चा का विषय हो सकता है। अतः इस परिभाषा को कुछ संकुचित करते हुए यह कहा जा सकता है कि मानविकी वे शैक्षणिक विषय हैं जिनमें प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के मुख्यतः अनुभवजन्य दृष्टिकोणों के विपरीत, मुख्य रूप से विश्लेषणात्मक, आलोचनात्मक या काल्पनिक विधियों का प्रयोग कर मानवीय स्थिति का अध्ययन किया जाता है। [34]

2.3.2 मानिविकी का क्षेत्र –

भारतीय जीवन दर्शन के अनुसार मानव को धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टय को साधने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। इन पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म, अर्थ एवं काम

---

[32] शब्दकल्पद्रुम

[33] महाभारत 1/75/12–13

[34] विकीपीडिया इन्टरनेट

भौतिक स्तर पर किये जाते हैं। इन तीनों की सिद्धि हो जाने पर ही मोक्ष को आध्यात्मिक स्तर पर प्राप्त किया जा सकता है। धर्म, अर्थ एवं काम का सही प्रकार से साधन करने हेतु मानव को अपने जीवन में संतुलित, न्यायपूर्ण एवं सुव्यवस्थित होना जरूरी है। इसके लिए समुचित शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता होती है, जिसमें मानवीय जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित अनेक विषय सम्मिलित किये जाते हैं। मानव के जीवन के विभिन्न पहलुओं को प्रभावित करने वाले कारक मानविकी के अध्ययन सीमा में आते हैं। मानविकी का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है जिसमें भाषा विज्ञान, साहित्य, कानून, इतिहास, दर्शन, धर्म, दृश्यकला, अभिनय कला, नृत्य, संगीत, चित्रकला, पाककला एवं कामकला मानव जीवन के विभिन्न पक्षों पर सुनियोजित एवं सुस्पष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। मानव की आवश्यकता एवं उद्देश्यों के दृष्टिकोण से इन्हें निम्नलिखित प्रकार से विभाजित किया जा सकता है –

1. धार्मिक एवं सामाजिक उद्देश्य – दर्शन, धर्म, भाषा विज्ञान, कानून आदि
2. सांस्कृतिक उद्देश्य – इतिहास, नृत्य, अभिनय, पाककला, साहित्य संगीत आदि
3. आर्थिक उद्देश्य – दृश्य कला, चित्रकला आदि

2.3.3 ज्योतिष एवं मानिविकी का अन्तः सम्बन्ध –

आप जानते ही हैं कि ज्योतिश्शास्त्र व्यक्ति एवं उसके व्यवहार का कुण्डली आदि के द्वारा अध्ययन कर उसके भावी सुखदुःखादि का पूर्वानुमान करता है। वस्तुतः ज्योतिषशास्त्र मानव के सम्पूर्ण अध्ययन करने के कारण मानिविकी के विषयों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। मनुष्य स्वभाव से ही अन्वेषक प्रवृत्ति का रहा है। प्रत्येक वस्तु के साथ अपने जीवन का तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर वह अपने से सम्बन्धित विषयों में भी परस्पर सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। आत्मा के स्वरूप का स्पष्टीकरण करना योग व दर्शन का विषय है, लेकिन ज्योतिषशास्त्र भी इस विषय से अपने को अछूता नहीं रखता। दर्शन के समान ज्योतिष ने भी आत्मा के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन पर गणित के प्रतीकों द्वारा जोर दिया है। यद्यपि स्पष्ट रूप से ज्योतिष में आत्मसाक्षात्कार के दर्शन शास्त्रोक्त साधनों का वर्णन नहीं मिलता है परन्तु प्रतीकों से उक्त विषय सहज में हृदयंगम किये जा सकते हैं। प्रायः इसी कारण देखा भी जाता है कि उत्कृष्ट आत्मज्ञानी ज्योतिष रहस्यों से अपरिचित नहीं रहता है। मानव जीवन अनेक समस्याओं का घर है। उन्नति– अवनति,

आत्मविकास और ह्रास के विभिन्न रहस्यों का पिटारा है। ज्योतिष शास्त्र आत्मिक, अनात्मिक भावों और रहस्यों को व्यक्त करने के साथ ही विभिन्न समस्याओं का समाधान करते हुए अनेक रहस्यों का प्रत्यक्षीकरण भी करता है। मानव जीवन के आलोच्य सभी विषय इस शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय बन जाते हैं। अतः यह शास्त्र जीवन का विश्लेषण करने के कारण मानविकी के सभी विषयों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। इसी कारण मानविकी के विभिन्न विषयों में से किस विशेष विषय में मानवविशेष की रुचि होगी, इस विषय को भी ज्योतिषशास्त्र स्पष्ट करता है।

अभ्यास प्रश्न

1. मानव शब्द की व्युत्पत्ति बताइये?
2. मानविकी किसे कहते हैं?
3. पुरुषार्थचतुष्टय कौन कौन से हैं?
4. मानव की आवश्यकता एवं उद्देश्यों के दृष्टिकोण से मानविकी विषयों को कितने भागों में विभाजित किया जा सकता है ?
5. सांस्कृतिक उद्देश्य में किन किन मानविकी विषयों को सम्मिलित किया जा सकता है?
6. ज्योतिषशास्त्र कुण्डली के द्वारा किन बातों का अध्ययन करता है?

2.4 विविध मानविकी विषयों में ज्योतिष

जैसा कि आप जानते ही हैं कि ज्योतिषशास्त्र का मानविकी के विविध विषयों से गहरा सम्बन्ध है। साथ ही मानविकी विषयों में से किस विषय में मानवविशेष की विशेष रुचि रहेगी अथवा वह आजीविका प्राप्त कर सकता है? इस विषय में ज्योतिषशास्त्र में अनेक योगायोगों का वर्णन मिलता है। अब आप इन विषयों की महत्ता एवं ज्योतिष से सम्बन्ध को जानेंगे। साथ ही इन विषयों के विशेषज्ञ योगों के बारे में भी ज्ञान प्राप्त करेंगे।

2.4.1 भाषा विज्ञान एवं ज्योतिष –

अपने भावों को व्यक्त करने के लिए मानव जिस सार्थक मौलिक साधन को अपनाता है, उसे भाषा कहते हैं। आचार्य दण्डी भाषा का महत्व बताते हुए कहते हैं कि –

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।

यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।

अर्थात् यदि शब्दरूपी ज्योति संसार में विद्यमान न होती तो ये तीनों भुवन अन्धकार से भरे हुए होते।भाषा के उच्चारण और उपयोग की शिक्षा देकर उसके विभिन्न अंगों व तत्त्वों का सूक्ष्मतम ज्ञान प्रदान करने वाले शास्त्र को भाषा विज्ञान कहते हैं। विद्वानों के अनुसार भाषा तत्त्वों का अध्ययन अथवा मानव प्रयुक्त व्यक्त वाक् का पूर्णतया वैज्ञानिक अध्ययन भाषा विज्ञान का प्रमुख लक्ष्य है। भारतवर्ष में भाषा विज्ञान की बहुत प्राचीन परम्परा रही है। वैदिक संहिताओं का पदपाठ भाषा विज्ञान का मूल माना जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में भाषा के सिद्धान्तों की मूलसंकल्पना निहित है। इनको सन्धि, समास और स्वराघात के आधार पर पदरूप दिया गया है। पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि, भट्टोजीदीक्षित आदि की व्याकरणशास्त्र की परम्परा में पोषित होकर भाषा विज्ञान ने व्यवस्थित अध्ययन के वर्तमान स्वरूप को धारण किया है। प्राचीन भारत में इस भाषा विज्ञान को व्याकरणशास्त्र या शब्दशास्त्र के रूप में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। शब्दशास्त्र को वेद के मुख के रूप में जाना जाता है। वेद के नेत्ररूप होने के कारण ज्योतिष का व्याकरणशास्त्र या भाषा विज्ञान से अटूट सम्बन्ध है। व्याकरण की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए ज्योतिर्विद् भास्कराचार्य कहते हैं–

यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यग्ब्राह्म्याः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम्।
यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य धीमान् शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी।।

अर्थात् जिसने वेद के मुख रूप शब्दशास्त्र को जान लिया, वह तो समस्त वेदवाणी को ही जान गया। उसके लिए अन्यशास्त्र तो अत्यन्त सरल ही हो जायेंगे। अतः बुद्धिमान को सर्वप्रथम इस शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। इस शास्त्र को पढ़ने के बाद ही व्यक्ति किसी दूसरे शास्त्र को सुनने का अधिकारी होता है।

इसी प्रकार वे पुनः सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय में कहते हैं कि –

वादी व्याकरणं विनैव विदुषां धृष्टः प्रविष्टः सभाम्।
जल्पन्नल्पमतिस्मयात् पटुबटुभ्रूभंगवक्रोक्तिभिः।।
ह्रीणः सन् उपहासमेति..................................।।

अर्थात् व्याकरण को जाने विना यदि कोई अल्पमति वादी धृष्टतापूर्वक सभा में प्रविष्ट होकर अनर्गल बोले तो निपुण बटु की वक्र भौंहों के साथ कही गई उक्तियों के द्वारा वह हीन होकर उपहास का पात्र बन जाता है।

इस प्रकार व्याकरण या शब्दशास्त्र का ज्ञान सभी शास्त्रों के ज्ञान हेतु आवश्यक है। ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख मानक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में निबद्ध होने के कारण व्याकरण के सम्यक् ज्ञान के विना दुरूह हो जाता है। इसलिए व्याकरण व ज्योतिष का सम्बन्ध अत्यधिक गहरा है।

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को भाषा विज्ञान के रूप में जाना जाता है और यह एक सामाजिक विज्ञान है, भाषाओं का अध्ययन अभी भी मानविकी का केंद्र है। बीसवीं और इक्कीसवीं सदी के अधिकांश दर्शन को भाषा के विश्लेषण और इस प्रश्न पर केंद्रित किया गया है कि क्या हमारे अधिकांश दार्शनिक भ्रम हमारे द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली शब्दावली से उत्पन्न नहीं होते हैं। साहित्यिक सिद्धांत ने भाषा की शब्दाडंबर पूर्ण, साहचर्य और आदेशात्मक विशेषताओं का खुलासा किया है। और इतिहासकारों ने बदलते समय के साथ भाषाओं के विकास का अध्ययन किया है। साहित्य अपने गद्य स्वरूपों, कविता और नाटक सहित भाषा के विभिन्न उपयोगों को समाहित करते हुए आधुनिक मानविकी के पाठ्यक्रम के केंद्र में भी स्थित है। विदेशी भाषा के कॉलेज–स्तरीय कार्यक्रमों में आम तौर पर उस भाषा की महत्त्वपूर्ण रचनाओं के साथ–साथ स्वयं भाषा के अध्ययन को शामिल किया जाता है।

अब हम भाषा विज्ञान के ज्योतिषीय योगों के बारे जानेंगे। ज्योतिष शास्त्र में वैयाकरणयोग का उल्लेख मिलता है। यदि कारकांश लग्न से द्वितीय में अथवा पंचम भाव में गुरु स्थित होता है तो जातक व्याकरण शास्त्र का ज्ञाता होता है। इसी प्रकार द्वितीय भाव का स्वामी यदि गुरु हो और वह सूर्य व शुक्र से दृष्ट हो तो जातक भाषाविद् होता है (जातकतत्त्व पंचमविवेक श्लोक 36–37)। इस प्रकार अनेक योगों का वर्णन ज्योतिष शास्त्र में मिलता है।

2.4.2 साहित्य एवं ज्योतिष –

साहित्य समाज का दर्पण है। सहितस्य भावः कर्म वा साहित्यम् इस व्युत्पत्ति से

सहित पद से व्यञ् प्रत्यय होकर साहित्य शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार साहित्य शब्द का सामान्य अर्थ होता है सहित का भाव या कर्म। परन्तु संस्कृत वाङ्मय में हितेन सहितौ शब्दार्थौ सहितौ, तयोर्भावः कर्म वा साहित्यम् ऐसी व्युत्पत्ति से यह पद योगरूढ हो जाता है। इसीलिए साहित्य को काव्य के नाम से भी जाना जाता है। भामह के अनुसार शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् अर्थात् शब्द और अर्थ के साहचर्य भाव का प्रतिपादक काव्य होता है। इसी बात को विश्वनाथ भिन्न प्रकार से कहते हैं – वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। अर्थात् रसों से परिपूर्ण वाक्य ही काव्य है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में काव्य को प्रमुखता प्रदान की गई है। काव्य के प्रमुख अंगों में रस, छन्द व अलंकार हैं जिनके द्वारा काव्य रसिकों के हृदय में ब्रह्मानन्दसहोदर भावना की अनुभूति प्रकट करता है।

साहित्य के लिए आंग्लभाषा में लिटरेचर एक बेहद अस्पष्ट शब्द है। अपने व्यापक स्वरुप में इसका अर्थ हो सकता है – शब्दों का कोई ऐसा क्रम जिसे किसी स्वरूप या दूसरे (मौखिक संप्रेषण सहित) में संप्रेषण के लिए सुरक्षित रखा गया है। अधिक सूक्ष्मता में इसका इस्तेमाल अक्सर काल्पनिक रचनाओं जैसे कि कहानियाँ, कविताएँ और नाटकों के नामकरण के लिए किया जाता है। और अधिक सूक्ष्मता में इसका उपयोग एक आदरसूचक के रूप में होता है और यह केवल उन्हीं रचनाओं पर लागू होता है जिन्हें विशेष योग्यता से परिपूर्ण माना जाता है।

साहित्य व ज्योतिष का परस्पर गहन सम्बन्ध है। ज्योतिषशास्त्र के जितने भी मानक ग्रन्थ हैं प्रायः काव्यमय ही हैं। आचार्य भास्कर ने तो सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय में गणित जैसे दुरूह विषय को समझाने के बाद ग्रन्थ के मध्य में पाठकों के चित्त को विश्रान्ति देने हेतु एक अध्याय ऋतुवर्णन ही लिखा है, जिसको पढकर छात्र या पाठक विश्रान्ति का अनुभव कर अग्रिम गणित के लिए सज्ज हो सके। लीलावती में वे अपने ग्रन्थ की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि – लीलागम्यं सुललितपदं प्रश्नरम्यम्। यहाँ पर सुललितपद यह शब्द ही उनके काव्यप्रेम को ध्वनित कर देता है। इसी प्रकार ज्योतिष के अन्य आचार्यों ने साहित्यमय ग्रन्थों की रचना कर गणित एवं ज्योतिषीय फलादेशों को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। आचार्य वराहमिहिर के बृहत्संहिता में तो अनेक छन्दों का प्रयोग उनके काव्यकौशल को प्रतिध्वनित करता है। वस्तुतः काव्य जहाँ मनुष्य को विश्रान्ति

प्रदान कर उसको ब्रह्मानन्दसहोदर का अनुभव कराता है वहीं दूसरी ओर हृदय की कोमल भावनाओं को भी प्रस्फुटित कर देता है। अतः ज्योतिष में साहित्य का प्रयोगात्मक कार्य इन दोनों के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध को स्पष्ट कर देता है। ज्योतिष शास्त्र के मानक ग्रन्थों में काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ होने के योगों का भी वर्णन मिलता है, जिसमें से कुछ प्रमुख योग आप यहाँ पढेंगे।

जैमिनि सूत्र (1/2/105) में सुकवि योग के विषय में कहा गया है कि यदि कारकांश से पंचम में शुक्र हो तो जातक काव्यशास्त्र का ज्ञाता व कवि होता है। इसी प्रकार बृहत्पाराशर होरा शास्त्र (25/109,121) में वर्णन है कि कर्मेश लग्न में हो तो जातक कवि होता है। लाभेश लग्न में स्थित हो तो भी जातक काव्यरचना में निपुण होता है। जातकाभरण (लाभभावविचार 05) में कहा गया है कि यदि एकादश भाव में बुध का वर्ग हो और वह भाव बुध से युक्त या दृष्ट हो तो जातक काव्य के माध्यम से आजीविका चलाता है। इसी प्रकार जातकाभरण के दृष्टिफलाध्याय, जातकपारिजात, बृहज्जातक, लग्नचन्द्रिका, मानसागरी आदि ग्रन्थों में काव्यशास्त्रज्ञ के अनेक योग कहे गये हैं।

2.4.3 कानून एवं ज्योतिष

आम बोलचाल में कानून का मतलब है एक ऐसा नियम (नैतिकता के नियमों के विपरीत) जिसे संस्थाओं के माध्यम से लागू किया जा सकता है। कानून का अध्ययन सामाजिक विज्ञान और मानविकी के बीच की सीमाओं को पार कर जाता है जो इसके उद्देश्यों और प्रभावों में किसी व्यक्ति के शोध के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। कानून, विशेष रूप से अन्ताराष्ट्रिय संबंधों के संदर्भ में हमेशा लागू करने योग्य नहीं होता है। इसे नियमों की एक व्यवस्था के रूप में, न्याय पाने के लिए एक व्याख्यात्मक अवधारणा के रूप में, लोगों के हितों में मध्यस्थता के अधिकार के रूप में, और यहाँ तक कि स्वीकृति की धमकी से समर्थित एक संप्रभु के आदेश के रूप में परिभाषित किया गया है। हालांकि कानून के बारे में व्यक्ति यह समझना पसंद करता है कि यह एक पूरी तरह से केंद्रीय सामाजिक संस्था है। कानूनी नीति में मानविकी के लगभग प्रत्येक सामाजिक विज्ञान और विषय के विचारों की व्यावहारिक अभिव्यक्ति को शामिल किया जाता है। कानून राजनीति का ही एक रूप हैं क्योंकि राजनेता इन्हें बनाते हैं। कानून एक दर्शन है क्योंकि सदाचारी

और नैतिक प्रबोधन इनके विचारों को आकार देते हैं। कानून इतिहास की कई कहानियों को बताता है क्योंकि अधिनियम, मामले से संबंधित कानून और संहिताकरण बदलते समय के साथ बनाए जाते हैं। और कानून अर्थशास्त्र है क्योंकि अनुबंध, संपत्ति कानून, श्रम कानून, कंपनी कानून और कई अन्य बातों के बारे में किसी नियम का प्रभाव संपत्ति के वितरण पर लंबे समय तक रह सकता है। संज्ञा के रूप में कानून बाद की पुरानी अंग्रेजी के संहन शब्द से उत्पन्न हुआ है जिसका मतलब है कुछ लिखा हुआ या सुनिश्चित, और इसका विशेषण लीगल के लिए लैटिन शब्द लेक्स से आया है।

ज्योतिष शास्त्र का कानून से भी सम्बन्ध रहा है। क्योंकि प्राचीन स्मृत्यादि धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों एवं न्यायविषय ग्रन्थों में तत्कालीन प्रजा को शासित करने के नियमों का वर्णन मिलता है। इन ग्रन्थों में ज्योतिषीय विषयों का भी वर्णन मिलता है। साथ ही ज्योतिष द्वारा बताये गये समय पर किये जाने वाले कर्मों का भी धर्मशास्त्र आदेश देता है। ज्योतिष के ग्रन्थों में कानूनविद् न्यायाधीश इत्यादि के विषय में भी अनेक योगों का वर्णन मिलता है। आपके ज्ञान हेतु कुछ प्रमुख योग यहाँ वर्णित हैं –

यदि कारकांशलग्न से द्वितीय, तृतीय या पंचम भाव में गुरु व मंगल स्थित हों तो जातक तर्कशास्त्र में निपुण व न्यायविद् होता है। गुरु व शुक्र स्वोच्च में, स्वराशि में अथवा स्व मूलत्रिकोण में हों तो भी जातक तर्कशास्त्री होता है। गुरु या शुक्र द्वितीयेश होकर यदि सूर्य व मंगल से दृष्ट हों तो जातक तर्कशास्त्र में निष्णात न्यायविद् होता है(जातकतत्त्व पंचमविवेक 39–41)। जातकाभरण(श्रेष्ठयोग 05 एवं दृष्टिफलाध्याय 30) में न्यायाधीश योग के विषय में कहा गया है कि यदि शुभग्रह लग्न से छठें, सातवें व आठवें भाव में पापग्रहों से युक्त या दृष्ट न हों तो जातक न्यायाधीश बनता है। इसी प्रकार सिंहराशि में स्थित शुक्र शनि से दृष्ट हो तो भी जातक न्यायाधीश होता है। यदि सूर्य, चन्द्र, बुध, गुरु व शुक्र ये पांचों ग्रह एक ही स्थान में हों तो जातक सुप्रसिद्ध न्यायाधीश होता है (मानसागरी 2/07)। यदि सूर्य उच्चस्थ अर्थात् मेष राशि में हो तो भी जातक न्यायाधीश होता है(मानसागरी 3/1)। सारावली के 30 वें अध्याय में भी अनेक न्यायाधीश योगों का वर्णन मिलता है। इसके अनुसार यदि बुध अष्टम भाव में हो अथवा शुक्र पंचम भाव में हो या शनि द्वितीय या दशम भाव में हो अथवा चन्द्र से दशमभाव में सूर्य व मंगल हों तो जातक

न्यायाधीश बन सकता है। ज्योतिष शास्त्र में अधिवक्ता अर्थात् वकील बनने के योगों का भी वर्णन मिलता है। जातकतत्त्व (दशमविवेक 40–444) के अनुसार यदि सूर्य, चन्द्र व मंगल तीनों एक ही स्थान में हों तो जातक अधिवक्ता बन सकता है। इसी प्रकार यदि गुरु व शुक्र परस्पर सप्तम भाव में हों अथवा एक ही राशि में 2 अंश से अल्प अन्तर में स्थित हों या परस्पर पंचम–नवम भावों में स्थित हों अथवा दोनों ही मेष, मिथुन, सिंह, तुला, धनु या कुम्भ राशियों में से किसी एक में स्थित हों तो भी जातक अधिवक्ता बनाता है। कहा जा सकता है कि गुरु व शनि का योग जातक को अधिवक्ता बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

2.4.4 इतिहास एवं ज्योतिष

इतिहास अतीत के बारे में व्यवस्थित रूप से एकत्रित की गयी जानकारी है। अध्ययन के एक क्षेत्र के रूप में प्रयोग किये जाने पर इतिहास मनुष्यों, समाजों, संस्थाओं और समय के साथ बदलने वाले किसी भी विषय से संबंधित आंकड़ों के अध्ययन और व्याख्या को संदर्भित करता है। इतिहास की जानकारी में अक्सर अतीत की घटनाओं की जानकारी और ऐतिहासिक विचारशीलता की योग्यताओं, दोनों को शामिल किया जाता है। परंपरागत रूप से इतिहास के अध्ययन को मानविकी का एक भाग माना गया है। आधुनिक शिक्षा पद्धति में इतिहास को कभी–कभी सामाजिक विज्ञान के रूप में वर्गीकृत किया जाता है।

पुराणशास्त्रों को भी इतिहास माना गया है। पुराणों में अनेक स्थानों पर ज्योतिष विषयक चर्चा समुपलब्ध होती है। ज्योतिष शास्त्र भी इतिहास को महत्व देता है। यदि किसी देश, जाति या विषय का इतिहास ज्ञात न हो तो उसकी प्राचीनता एवं विकास अवस्था के बारे में नहीं जाना जा सकता है। ज्योतिष के मानक ग्रन्थों में उनके पूर्ववर्ती आचार्यों के विषय में उल्लेख प्राप्त होता है, जो ज्योतिषज्ञों के इतिहास प्रेम को सुस्पष्ट करता है। भास्कराचार्य, वराहमिहिर आदि आचार्यो ने अपने ग्रन्थों में अपने पूर्ववर्ती आचार्यो का आदर पूर्वक उल्लेख करते हुए उनके वचनों को भी यत्र तत्र स्थान दिया है। यहाँ पर कुछ पुराणविद् होने के योगों का वर्णन किया जा रहा है, जो वस्तुतः जातक के इतिहासविद् अथवा पुरातत्वविद् होने की सम्भावना को भी व्यक्त करता है।

जातकपारिजात (15/47–48) के अनुसार यदि जातक के लग्न या चन्द्र से दशम स्थान का स्वामी बुध के नवांश में हो तो जातक पुराण से आजीविका प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार लग्न या चन्द्र से दशमेश गुरु के नवांश में हो तो भी पुराणागम शास्त्रों से धनप्राप्ति करता है।

2.4.5 दर्शन एवं ज्योतिष

दर्शन (फिलॉसफी) शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार अंतर्दृष्टि में रुचि (लव ऑफ विजडम) है। आम तौर पर यह अस्तित्व, ज्ञान, औचित्य, सत्य, न्याय, सही और गलत, सौंदर्य, वैधता, मन और भाषा जैसे मामलों से संबंधित समस्याओं का अध्ययन है। दर्शन को इसके आलोचनात्मक, आम तौर पर व्यवस्थित दृष्टिकोण और प्रयोगों (प्रायोगिक दर्शन एक अपवाद है) की बजाय तर्कसंगत बहस पर इसकी निर्भरता के जरिये इन मुद्दों को सुलझाने के अन्य तरीकों से अलग किया जाता है।

दर्शन एक बहुत ही व्यापक शब्द रहा है जिसमें वो बातें भी शामिल हैं जो बाद में अलग–अलग विषय बन गए जैसे कि भौतिकी। आज दर्शन के मुख्य क्षेत्र हैं तर्क, नैतिकता, तत्वमीमांसा (मेटाफिजिक्स) और ज्ञानमीमांसा (एपिस्टेमोलोजी). फिर भी अन्य विषयों के साथ बहुत से विषय निरंतर एक दूसरे की जगह लेते हैं। उदाहरण के लिए शब्दार्थ विज्ञान (सेमांटिक्स) का क्षेत्र दर्शन को भाषा विज्ञान के संपर्क में लाता है।

बीसवीं सदी की शुरुआत से विश्वविद्यालयों में पढ़ाया गया दर्शन (खास तौर पर दुनिया के अंग्रेजी भाषा–भाषी भागों में) कहीं अधिक विश्लेषणात्मक हो गया है। विश्लेषणात्मक दर्शन की पहचान है – जाँच का एक स्पष्ट, सख्त तरीका जो तर्क और तर्क–वितर्क के अधिक औपचारिक तरीकों के इस्तेमाल पर जोर देता है।

भारतीय दर्शन का उद्भव वेदों से माना जाता है। यहाँ षड्विध आस्तिक एवं षड्विध नास्तिक दर्शन माने गये हैं। भारतीय दर्शन अपने विपुल साहित्य एवं विशुद्ध आत्मचिन्तन के लिए विश्वप्रसिद्ध है। कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद, जगन्मिथ्यावाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद आदि विविध चिन्तनधाराओं से सुदृढ दर्शनशास्त्र का ज्योतिष से पिता–पुत्र जैसा सम्बन्ध है। यदि कहा जाय कि भारतीय दर्शन से ही ज्योतिषशास्त्र उद्भूत है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

भारतीय दर्शन के कर्मवाद के आधार पर भी ज्योतिष शास्त्र के फलितपक्ष का सृजन हुआ है। कर्मवाद के अनुसार – अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। अर्थात् जन्मजन्मान्तरों में किये गये कर्मां का फल अवश्य ही भोगना पडता है। हमारे कर्मों को तीन भागों में विभक्त किया गया है– संचित, प्रारब्ध एवं कियमाण। संचित वह कर्म है जो मनुष्य के जन्मजन्मान्तरों अब तक किये गये अभुक्त कर्म का संचयन है। ज्योतिषशास्त्र में संचित कर्म विभिन्न योगायोगों द्वारा प्रकट होते हैं। प्रारब्ध या भाग्य वह है, जिसे संचित कर्मों में से अब भोगना है। ज्योतिषशास्त्र विंशोत्तरी आदि दशाविचार द्वारा संचित कर्मों में से भोगने वाले कर्मफल प्राप्ति काल को बताता है। तीसरा क्रियमाण वह कर्म है, जिसे वर्तमान में किया जा रहा है अथवा आगे करना है। ज्योतिषशास्त्र गोचरविचार द्वारा क्रियमाण कर्म के फल को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार ज्योतिष दर्शनशास्त्र के कर्मवाद को मानते हुए जातक के सुख दुःखादि का पूर्वानुमान करता है। अतः आचार्य वराहमिहिर कहते हैं –

यदुपचितमन्यजन्मनि तस्य शुभाशुभकर्मणः पंक्तिम्।
व्यंजयति शास्त्रमेतत् तमसि द्रव्याणि दीप इव।।– लघुजातक 1/3

ज्योतिष शास्त्र न केवल कर्मवाद अपितु दर्शन शास्त्र के सृष्टि की उत्पत्ति व विनाश सम्बन्धी चिन्तन पर भी विचार करता है। ज्योतिषशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ही काल है, जो दर्शन में एक महत्वपूर्ण चिन्तन बिन्दु भी है। इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्रीय ग्रन्थों में विविध दार्शनिक विचारधाराओं का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। जैसे सूर्यसिद्धान्त, सिद्धान्तशिरोमणि आदि ग्रन्थों में सांख्यदर्शन, अद्वैतदर्शन आदि का प्रभाव सुस्पष्ट है। इस प्रकार दर्शन से ज्योतिष का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। यहाँ आपके ज्ञानार्थ कुछ दार्शनिक योग प्रस्तुत हैं–

कारकांशलग्न से द्वितीय भाव में, तृतीयभाव में अथवा पंचमभाव में यदि बुध व गुरु स्थित हों तो जातक मीमांसशास्त्र का अधिकारी विद्वान होता है(जातकतत्त्व पंचमविवेक 38)। इसी प्रकार कारकांश से द्वितीय तृतीय या पंचम भाव में गुरु व मंगल हो तो जातक तर्कशास्त्र का ज्ञाता होता है(जातकतत्त्व पंचमविवेक 39)। कारकांश से द्वितीय तृतीय या पंचम भाव में गुरु व चन्द्र हों तो जातक सांख्यशास्त्र का अधिकारी विद्वान होता है(जातकतत्त्व पंचमविवेक 42)। इसी प्रकार जातकतत्त्व (द्रष्टव्य पंचमविवेक श्लोक 43–61)

में वेदान्तशास्त्र के ज्ञाता होने के योग कहे गये हैं। कारकांश से द्वितीय तृतीय या पंचम भाव में गुरु व सूर्य हों तो जातक वेदान्ती होता है। द्वितीयेश बुध उच्चराशि का हो, शनि गोपुरांश में तथा बृहस्पतिः सिंहासनांश में हो तो जातक वेदान्तशास्त्र में निपुण होता है। इसी प्रकार शनि पारावतांश में स्थित होकर बुध व गुरु से दृष्ट हो तो भी जातक वेदान्ती होता है। गुरु स्वोच्च, स्वराशि या मित्रराशि में होकर केन्द्र या त्रिकोणगत हो तो वेदान्त में निपुण होता है। यदि शुक्र उत्तमांश में होकर लग्न में बैठा हो तो भी जातक वेदान्ती होता है। इसी प्रकार चन्द्र देवलोकांश में हो और चन्द्र उत्तमांश में होकर केन्द्र में बैठा हो तो जातक वेदान्तज्ञ होता है।लग्नेश द्वितीयभाव में तथा द्वितीयेश पारावतांश में स्थित हो तो भी जातक वेदान्तशास्त्र में निपुण होता है।स्वोच्चराशि में स्थित बुध लग्न में स्थित हो और द्वितीयेश पारावतांश में हो तो जातक वेदान्त में पटु होता है।

2.4.6 धर्म एवं ज्योतिष –

धारयतीति धर्मः, जो धारण करता है, वही धर्म है। अब प्रश्न उठता है कि यह धर्म किसे धारण करता है। इसके उत्तर में मनु का यह वचन महत्वपूर्ण है –

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाम्।

अर्थात् जिसके द्वारा प्रजा धारण की जाती है, वह ही धर्म है। पुनः प्रजा को धारण करने हेतु धर्म के दश विशिष्ट लक्षण कहे गये हैं क्योंकि धर्मो रक्षति रक्षितः अर्थात् जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म भी उसकी रक्षा करता है। धर्म को धारण करने योग्य नियमों को मनु इस प्रकार कहते हैं –

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयश्शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

वस्तुतः सामाजिक सुरक्षा व न्याय के दृष्टिकोण से उपर्युक्त धर्म के लक्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। मानवीय दुर्बलताओं को दूर कर मनुष्य को एक आदर्श नागरिक के रूप में देखने की परिकल्पना को साकार करके ही हम सामाजिक सुरक्षा व न्याय को सुदृढ कर सकते हैं। आज समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, चोरी, महिलाओं व बच्चों के प्रति बढते अपराध, यौन हिंसा, मानवाधिकार हनन आदि दुर्भावनाओं को यदि हमें दूर करना है तो धर्म का आश्रय अवश्य लेना ही होगा। अन्यथा वह दिन दूर नहीं, जिस दिन मानव पशुओं से भी अधम हो जायेगा

– **धर्मेण हीनः पशुभिः समानः।** फिर सामाजिक सुरक्षा व न्याय की बात करना भी व्यर्थ होगा।

धर्म को ही प्रायः लोग उपासना पद्धति मान लेते हैं, जबकि उपासना पद्धति व विश्वास, जिसे सम्प्रदाय भी कहते हैं, धर्म का एक भाग माना जा सकता है। इन सम्प्रदायों का लक्ष्य धर्माचरण करते हुए अभ्युदय एवं श्रेय को प्राप्त करना है। अतः वैशेषिक दर्शन कहता है यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिस्स धर्मः। अधिकांश इतिहासकारों के अनुसार धार्मिक विश्वास की शुरुआत निओलिथिक युग में हुई थी। इस अवधि के दौरान ज्यादातर धार्मिक मान्यताओं में एक देवी माँ, एक आकाश पिता की पूजा और देवताओं के रूप में सूर्य एवं चंद्रमा की पूजा शामिल थी। आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार नए दर्शनों और धर्मों का उदय पूर्व और पश्चिम दोनों में, विशेषकर ईसा पूर्व छठी शताब्दी के आसपास हुआ। बदलते समय के साथ दुनिया भर में अनेक प्रकार के धर्म विकसित हुए जिनमें भारत में हिंदू धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, फारस में जरथ्रुस्टवाद कुछ शुरुआती मुख्य विश्वासों में शामिल हैं। पूर्व में तीन विचारधाराएं आधुनिक समय तक चीनी मान्यताओं पर हावी थीं। इनके नाम थे ताओवाद, लीगलिज्म और कन्फ्यूशियसवाद। कन्फ्यूशियस की परंपरा जिसने अपना प्रभुत्व कायम किया, इसने राजनीतिक नैतिकता के लिए कानून की ताकत की ओर नहीं बल्कि परंपरा की शक्ति और उदाहरण की ओर देखा। पश्चिम में प्लेटो और अरस्तू के प्रतिनिधित्व में यूनानी दार्शनिक परंपरा ईसा पूर्व चौथी सदी में मेसिडोनिया के एलेक्जेंडर (सिकंदर) के विजय अभियानों के जरिये पूरे यूरोप ओर मध्य पूर्व में फैल गयी थी।

इब्राहिम संबंधी धर्म उन धर्मों को कहा जाता है जो एक सामान्य प्राचीन सामी (सेमिटिक) परंपरा से उत्पन्न हुए और जिनका पता इब्राहिम के अनुयायियों द्वारा लगाया गया था। इब्राहिम एक ऐसे धर्माचार्य थे जिनकी जीवनी का वर्णन हिब्रु बाइबल (ओल्ड टेस्टामेंट) में किया गया है, जहाँ उन्हें एक पैगंबर बताया गया है और कुरान में भी वे एक पैगंबर के रूप में दिखाई देते हैं। यह काफी हद तक एकेश्वरवादी धर्मों से संबंधित एक विशाल समूह का निर्माण करता है, जिसमें आम तौर पर यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म को शामिल किया जाता है जिनकी तादाद दुनिया भर के धार्मिक अनुयायियों के आधे से भी अधिक है।

यदि हम हिन्दूधर्म की बात करें तो धर्म और ज्योतिष का अभिन्न सम्बन्ध है। धर्मशास्त्र में वर्णित जितने भी व्रत, पर्व, उत्सव इत्यादि हैं, उनके लिए सुनिश्चित काल हैं। कालज्ञापक शास्त्र होने के कारण ज्योतिष पंचांग पत्रक के द्वारा सुनिश्चित काल का ज्ञान कराता है। यदि ज्योतिषशास्त्र न हो तो कब एकादशी व्रत है? कब अष्टमी व्रत है? कब पूर्णिमा व्रत है? किस दिन संकष्टहरचतुर्थी व्रत या विनायकचतुर्थी व्रत है? इसका परिपालन नहीं हो पायेगा। इसी प्रकार रामनवमी, जन्माष्टमी, दशहरा, बसन्त पंचमी आदि कब मनाये जाएं? ये ज्ञात नहीं हो सकता है। कुम्भपर्व, महावारूणी योग, संक्रान्ति जैसे पर्व का निर्णय भी ज्योतिष के बिना सम्भव नही है। श्राद्धादि काल का निर्णय भी ज्योतिष भी करवाता है। अतः कह सकते हैं कि नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्तादि जितने भी कर्म हैं ज्योतिष के बिना सम्भव नहीं हैं। पूजन इत्यादि में प्रयुक्त संकल्प भी ज्योतिषज्ञान के बिना नही किया जा सकता है। इस प्रकार धर्मशास्त्र के अनुदेशों का पालन कर ज्योतिष समुचित काल का ज्ञान कराता है। यहाँ आपके ज्ञान के लिए कुछ धार्मिकक्रियाशील जातकों के योगों का वर्णन प्रस्तुत है।

दशमेश बली होकर स्वोच्च, स्वनवांश अथवा स्वराशि में हो तो जातकशुभकार्यों में संलग्न होता है(बृ.पा.हो.शा. 22/2)। यदि एकादशभाव में गुरुग्रह का वर्ग हो और वह भाव गुरु से युक्त या दृष्ट हो तो जातक यज्ञादिधार्मिकक्रियाओं में निरत रहता है(जातकाभरण लाभभावविचार 06)। मानसागरी (2/11) के अनुसार यदि मंगल कन्याराशि का होता है तो जातक यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं में कुशल होता है।जैमिनिसूत्र 1/2/40 के अनुसार यदि कारकांश से दशम में बुध हो और उस पर शुभ ग्रह की दृष्टि हो तो जातक पुरोहित बनता है।

अभ्यास प्रश्न –

7. **इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्** यह वचन किस आचार्य का है?

8. वेदवदनं इस शब्द का तात्पर्य क्या है?

9. भामह के अनुसार काव्य की क्या परिभाषा है?

10. कानून शब्द का सामान्य मतलब क्या है?

11. लग्न या चन्द्र से दशमेश गुरु के नवांश में हो तो जातक किस माध्यम से धनप्राप्ति

करता है?

12. भारतीय दर्शन के अनुसार कर्म के कितने भेद हैं?

13. **धर्मो रक्षति रक्षितः** इस वाक्य का क्या तात्पर्य है?

2.4.7 दृश्य कला एवं ज्योतिष –

कला की महान परंपराओं की नींव प्राचीन भारत, जापान, ग्रीस और रोम, चीन, मेसोपोटामिया और मेसोअमेरिका जैसी प्राचीन सभ्यताओं में मौजूद है। प्राचीन यूनानी कला ने मांसलता, आत्मविश्वास, सुंदरता और संरचनात्मक रूप से सही अनुपात को दिखाने के लिए मानव के भौतिक स्वरूप और समकक्ष योग्यताओं में श्रद्धा को देखा। प्राचीन रोमन कला ने देवताओं का चित्रण को आदर्श मनुष्यों के रूप में किया जिन्हें अलग–अलग चारित्रिक विशेषताओं के साथ दिखाया गया था। मध्य युग की बीजान्टिन (यूनानी) और गोथिक कला में चर्च के प्रभुत्व ने सांसारिक सच्चाइयों की नहीं बल्कि बाइबिल संबंधी अभिव्यक्तियों पर जोर दिया गया। पुनर्जागरण ने सांसारिक दुनिया के मूल्य की ओर वापसी को देखा और यह परिवर्तन कला के स्वरूपों में दिखाई दिया जो मानव शरीर की भौतिकता और प्राकृतिक दृश्य (लैंडस्केप) की तीन–आयामी सच्चाई को दर्शाते हैं।

पूर्वी कला ने आम तौर पर एक पश्चिमी मध्ययुगीन कला के समान शैली में काम किया है, जिसमें सतह की आकृति और स्थानीय रंग पर ध्यान केंद्रित करना शामिल है (अर्थात किसी चीज का एक साधारण रंग जैसे कि रेड रोब के लिए प्रकाश, छाया और प्रतिबिम्ब से उत्पन्न उस रंग के अनुकूलन की बजाय बुनियादी लाल रंग का प्रयोग). इस शैली की एक विशेषता यह है कि स्थानीय रंग को अक्सर एक रूपरेखा द्वारा परिभाषित किया जाता है (कार्टून इसका एक समकालीन समतुल्य है)। उदाहरण के लिए इसे भारत, तिब्बत और जापान की कला में स्पष्ट रूप से देखा जाता है।

धार्मिक इस्लामी कला में मूर्तिकला के निर्माण की मनाही है और इसकी जगह इसमें ज्यामिति के जरिये धार्मिक विचारों की अभिव्यक्ति होती है। 19वीं सदी के ज्ञानोदय द्वारा दर्शायी गयी भौतिक और तर्कसंगत निश्चितताओं को ना केवल आइंस्टीन के सापेक्षता के आविष्कारों और फ्रायड के अदृश्य दर्शन के जरिये बल्कि अभूतपूर्व तकनीकी विकास के जरिये ध्वस्त कर दिया गया। इस अवधि के दौरान बढ़ते वैश्विक संपर्क से पश्चिमी कला में

अन्य संस्कृतियों का एक समकक्ष प्रभाव देखा गया।

चित्रकारी (ड्रॉइंग) विभिन्न प्रकार के साधनों और तकनीकों में से किसी एक का इस्तेमाल कर चित्र बनाने का एक माध्यम है। इसमें आम तौर पर एक उपकरण से दबाव डालकर किसी सतह पर निशान बनाना या किसी सतह पर एक उपकरण को घुमाना शामिल है। आम तौर पर इस्तेमाल किये जाने वाले उपकरण हैं ग्रेफाइट पेंसिल, कलम और स्याही, स्याही युक्त ब्रश, मोमयुक्त रंगीन पेंसिल, क्रेयोन, चारकोल, पेस्टल और मार्कर. इन प्रभाओं का अनुकरण करने वाले डिजिटल उपकरणों का भी इस्तेमाल किया जाता है। ड्रॉइंग में इस्तेमाल की जानेवाली मुख्य तकनीकें हैं – लाइन ड्रॉइंग, हैचिंग, क्रॉस हैचिंग, रैंडम हैचिंग, स्टिप्लिंग और ब्लेंडिंग. ड्रॉइंग में निपुण किसी कलाकार को ड्राफ्ट्समैन या ड्रॉट्समैन के रूप में संबोधित किया जाता है।

प्राचीन भारतीय दृश्यकलाओं में मूर्तिकला एवं चित्रकारी का ज्योतिषशास्त्र के वास्तु विभाग से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। वस्तुतः वास्तु के तीन प्रभेदों – स्थापत्य, शिल्प एवं आलेख्य में मूर्तिकला एवं चित्रकारी, शिल्प व आलेख्य में परिगणित हो जाते है। प्राचीनभारतीय वास्तुविषयकग्रन्थों में मूर्तिकला व चित्रकारी का विशद वर्णन प्राप्त होता है। मूर्तिकला पर आधारित रूपमण्डनम्, देवमूर्तिप्रकरणम् प्रभृति अनेक ग्रन्थ हैं। बृहत्संहिता के प्रतिमामानाध्याय में देव मूर्तियों के निर्माण विषयक मनोहर वर्णन प्राप्त होता है। समरांगणसूत्रधार, मानसार प्रभृति ग्रन्थों में मूर्तिकला व चित्रकारी के विषय में महत्वपूर्ण विवरण प्राप्त होता है। ज्योतिष शास्त्र के मानकग्रन्थों में मूर्तिकला एवं चित्रकारी से सम्बन्धित विभिन्न योगों का वर्णन मिलता है, जिसमें से कुछ आपके ज्ञान हेतु प्रस्तुत हैं–

जैमिनिसूत्र प्रथम अध्याय द्वितीयपाद के अनुसार यदि आत्मकारक का नवांश बुध हो तो जातक चित्रकार होता है। यदि आत्मकारक ग्रह कुम्भ के नवांश में हो तो जातक शिल्पी होता है। इसी प्रकार यदि आत्मकारकनवांश में राहु हो या कारकांश से चतुर्थ स्थान में राहु हो तो लोहयन्त्रनिर्माणकर्त्ता होता है। कारकांश से चतुर्थ में केतु हो तो घटीयन्त्र निर्माण कर्ता होता है। जातकाभरण (द्विग्रहयोगाध्याय 12) के अनुसार मंगल व बुध का योग स्वर्णकारादि धातुशिल्पी बनाता है। मानसागरी (2/1) के अनुसार सूर्य, चन्द्र व मंगल का योग होने पर जातक यन्त्रनिर्माण में कुशल होता है। जातकाभरण(रव्यादिग्रहभावफलाध्याय

01) के अनुसार जातक के लग्न में केतु हो तो जातक जुलाहा बनता है। इसी प्रकार जातकाभरण लाभभावविचार श्लो. 5 के अनुसार एकादशभाव में बुध का वर्ग हो और उस पर बुध की दृष्टि हो तो जातक शिल्पकार बनता है। यदि द्वितीय भाव में कर्कराशि हो अथवा शुक्रशनैश्चर एक ही भाव में हों तो जातक काष्ठकार होता है (मानसागरी 2/21, 3/4)। इसी प्रकार चन्द्र व मंगल का योग एक ही भाव में हो तो चर्मकार योग बनता है(मानसागरी 2/7)।

2.4.8 संगीत एवं ज्योतिष –

'गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयः संगीतमुच्यते' इस परिभाषा के अनुसार गायन, वादन एवं नृत्य का संयुक्त रूप ही संगीत है। सम्प्रति गीत एवं वाद्य के सम्मिश्रण को ही संगीत माना जाता है। नृत्य को अलग विधा मान लेते हैं। किन्तु वास्तविक रूप में गीत व वादन के विना नृत्य औचित्य विहीन हो जाता है। एक शैक्षणिक विषय के रूप में संगीत के कई अलग–अलग रास्ते हो सकते हैं जिनमें शामिल हैं संगीत प्रदर्शन (म्यूजिक परफॉर्मेंस), संगीत सिक्षा (संगीत शिक्षकों को प्रशिक्षित करना), संगीत विद्या, संगीत सिद्धांत और संगीत रचना. संगीत में पूर्वस्नातक (अंडरग्रेजुएट) करने वाले लोग आम तौर पर इन सभी क्षेत्रों में पाठ्यक्रम लेते हैं जबकि स्नातक छात्र एक विशेष मार्ग पर ध्यान केंद्रित करते हैं। उदार कला (लिबरल आर्ट्स) की परंपरा में संगीत का इस्तेमाल एकाग्रता और सुनने जैसी योग्यता का प्रशिक्षण देकर गैर–संगीतकारों की योग्यता का विस्तार करने में भी किया जाता है।

यद्यपि ज्योतिष एवं संगीत का प्रत्यक्ष सम्बन्ध परिलक्षित नहीं होता है परन्तु ज्योतिष के मानक ग्रन्थ छन्दोमय होने के कारण संगीत से अछूते नहीं हैं। क्योंकि छन्दों को गाया जाता है तभी उसका आनन्द प्राप्त होता है। जिस प्रकार संगीत के मूल में सात स्वर हैं उसी प्रकार ज्योतिष के सूर्यादि सप्त ग्रह प्रत्यक्ष हैं। ज्योतिषशास्त्र में संगीतज्ञ के योग प्राप्त होते हैं जिनमें से कुछ आपके ज्ञानार्थ वर्णित हैं –

जातकाभरण के दृष्टिफलाध्याय के अनुसार यदि कन्या राशि में स्थित चन्द्र बुध से दृष्ट हो अथवा मीन राशि में स्थित चन्द्र शुक्र से दृष्ट हो या कर्कराशि में स्थित बुध शुक्र से दृष्ट हो अथवा मकर या कुम्भ में स्थित शुक्र गुरु से दृष्ट हो अथवा जन्मांग में सूर्य व शुक्र एक

ही राशि में हो तो जातक संगीतज्ञ बनता है। वीणायोग में उत्पन्न व्यक्ति भी संगीतज्ञ होता है। इसी प्रकार संगीतज्ञ होने का अनेक ज्योतिषीययोगों में वर्णन मिलता है।

2.4.9 नृत्य एवं ज्योतिष –

संगीत के साथ शारीरिक भाव भंगिमा के द्वारा अभिनय करने की कला को नृत्य कहा जा सकता है। भारतीय परम्परा में नृत्य का अत्यन्त महत्व है। इसके द्वारा भगवत्प्राप्ति का उद्देश्य भी भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। भारतीय शास्त्रों में नृत्य विधा की उत्पत्ति भगवान शिव के ताण्डव तथा मां पार्वती के लास्य से मानी गई है। ताण्डव व लास्य के प्रथमाक्षरों के मेल से ही 'ताल' उत्पन्न हुआ है जिसका नृत्य एवं संगीत से अक्षुण्ण सम्बन्ध है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण नृत्य (पुरानी फ्रांसीसी डान्सियर से, संभवतः फ्रैंकिश से) का संदर्भ आम तौर पर मनुष्य की हरकतों से है चाहे इसे एक अभिव्यक्ति के रूप में उपयोग किया गया हो या एक सामाजिक, आध्यात्मिक या अभिनय व्यवस्था में प्रस्तुत किया गया हो। नृत्य का उपयोग मनुष्यों या जानवरों (मधुमक्खी नृत्य, कामुक नृत्य) और निर्जीव वस्तुओं की हरकतों (हवा में पत्तों का नृत्य) के बीच गैर–शाब्दिक संवाद के तरीकों की व्याख्या करने के लिए भी किया जाता है (देखें शारीरिक भाषा)। कोरियोग्राफी नृत्य कराने की कला है और जो व्यक्ति इस काम को करता है उसे कोरियोग्राफर (नृत्य–निर्देशक) कहा जाता है। नृत्य की संरचना में जो बातें शामिल होती हैं वे सामाजिक, सांस्कृतिक, सौंदर्यात्मक, कलात्मक और नैतिक बाध्यताओं पर निर्भर करती हैं और इनका विस्तार व्यावहारिक हरकतों (जैसे कि लोक नृत्य) से लेकर संहिताबद्ध (कोडीफाइड), कलाप्रवीण तकनीकों जैसे कि बैले तक होता है। खेलों में जिम्नास्टिक्स, फिगर स्केटिंग और सिंक्रनाइज्ड तैराकी नृत्य के विषयों में शामिल रहे हैं जबकि मार्शल आर्ट्स की तुलना अक्सर नृत्यों से की जाती है।

नृत्य का ज्योतिष से सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से नहीं कहा जा सकता है परन्तु ज्योतिष के वास्तुकला अंग में नृत्यशाला से सम्बन्धित निर्माण कार्य पर प्रकाश डाला गया है। यदि नृत्यशाला मनोनुकूल एवं वास्तुसम्मत होगी तो उसमें नृत्य करने वाले एवं दर्शक दोनों ही

प्रसन्न रहेंगे। ज्योतिषशास्त्र में नृत्यकला में पारंगत होने के योगों का भी वर्णन मिलता है। कुछ योग आपके ज्ञानार्थ प्रस्तुत हैं–

बुध एवं गुरु की युति जातक को नृत्यकला में पारंगत बनाती है। जातकपारिजात 8/101 के अनुसार शुक्र यदि स्वोच्च में हो तो जातक नृत्य से आजीविका प्राप्त करता है। मिथुन राशि का चन्द्र भी जातक को नृत्यशास्त्र का ज्ञाता बनाता है(बृ.जा.17/3)। बुध के नवांश में स्थित चन्द्र यदि सूर्य से दृष्ट हो तो जातक नर्तक होता है(बृ.जा.19/6)।

2.4.10 अभिनय कला एवं ज्योतिष –

भारतीय परम्परा में नाट्यकला अत्यन्त प्राचीन है। नाट्य कला का ही प्रकारान्तर रूप अभिनय कला है। अपने अभिनय अथवा नाट्य के द्वारा पात्र श्रान्त, दुःखित एवं अनुत्साही लोगों को आनन्द देने के साथ ही उसे किसी ऐतिहासिक अथवा अन्य अपरोक्ष काल की यात्रा पर ले जाता है।

अभिनय कला और प्लास्टिक कला इस मायने में एक दूसरे से अलग हैं कि पहले में कलाकार के अपने शरीर, चेहरे और स्वरूप को माध्यम बनाया जाता है और दूसरे में मिट्टी, धातु या रंग जैसी सामग्रियों का इस्तेमाल किया जाता है जिसे किसी कलाकृति को बनाने के लिए ढाला या रूपांतरित किया जा सके। प्रदर्शन कला में शामिल हैं कलाबाजी, बस्किंग, प्रहसन, नृत्य, जादू, संगीत, ओपेरा, फिल्म, बाजीगरी, ब्रास बैंड जैसे मार्चिंग आर्ट और रंगमंच। दर्शकों के सामने इन कलाओं के प्रदर्शन में हिस्सा लेने वाले अभिनेताओं को कलाकार (परफॉर्मर्स) कहा जाता है जिनमें अभिनेता, हास्य अभिनेता, नर्तक, संगीतकार और गायक शामिल होते हैं। प्रदर्शन कला में संबंधित क्षेत्र के कर्मियों का भी सहयोग होता है जैसे कि गीत लेखन और नाट्य शिल्प. परफॉर्मर्स अक्सर अपने स्वरूप को अपना लेते हैं जैसे कि पोशाक और स्टेज मेक–अप के जरिये. फाइन आर्ट का एक विशिष्ट स्वरूप भी होता है जिसमें कलाकार दर्शकों के सामने अपनी कला का प्रत्यक्ष (लाइव) प्रदर्शन करते हैं। इसे परफॉर्मेंस आर्ट अभिनय कला कहते हैं। ज्यादातर अभिनय कलाओं में प्लास्टिक कला के कुछ स्वरूपों को भी शामिल किया जाता है, संभवतः सहायक (प्रॉप्स) तैयार करने में. नृत्य को आधिनिक नृत्य युग में अक्सर प्लास्टिक कला के रूप में संदर्भित किया जाता है।

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र सर्वाधिक समादृत नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसके द्वितीयाध्याय में नाट्यगृह निर्माण के वास्तुशास्त्रीय एवं ज्योतिषीय पक्षों का विस्तृत वर्णन मिलता है। ज्योतिष के वास्तुकला अंग में नृत्यशाला से सम्बन्धित निर्माण कार्य पर वर्णन तो मिलता ही है, साथ ही नाट्यगृह निर्माण से सम्बन्धित मुहूर्तों पर प्रकाश डाला गया है। यदि नाट्यशाला मनोनुकूल एवं वास्तुसम्मत होगी तो उसमें अभिनय करने वाले कलाकार एवं दर्शक दोनों ही प्रसन्न रहेंगे। ज्योतिषशास्त्र में अभिनय कला में पारंगत होने के योगों का भी वर्णन मिलता है। कुछ योग आपके ज्ञानार्थ प्रस्तुत हैं–

जन्मलग्न से, चन्द्रलग्न से तथा सूर्यलग्न से दशमभाव शुक्र से प्रभावित हो अथवा भाग्य भाव में कर्कराशि में शुक्र हो तथा चन्द्र के ऊपर शुक्र की दृष्टि हो या नवांशकुण्डली में शुक्र उच्च में हों अथवा चतुर्थेश, पंचमेश एवं धनेश की युति हो और शुक्र की इन पर दृष्टि हो या नवांश कुण्डली में मंगल उच्च में हो तथा भाग्यस्थान के साथ शुक्र का सम्बन्ध हो अथवा पंचमभाव या लग्न बली हो अथवा शुभग्रह से युक्त या दृष्ट हो अथवा शुक्र व बुध बली होकर शुभस्थानों में हों और इनका लग्न, दशम या एकादश भावों से सम्बन्ध हो तो जातक अभिनेता बनता है।

2.4.11 चित्रकला एवं ज्योतिष –

शाब्दिक रूप से चित्रकारी (पेंटिंग) का मतलब किसी सतह (सहारे) जैसे कि कागज, कैनवास या एक दीवार पर किसी वाहक (या माध्यम) में समाहित रंग (पिगमेंट) और बाइंडिंग एजेंट (गोंद) को लगाकर इस्तेमाल करना है। हालांकि कलात्मक अर्थों में इस्तेमाल किये जाने पर इसका मतलब इस कार्य को उपयोगकर्ता के अभिव्यक्ति संबंधी और संकल्पनात्मक इरादों को अंजाम देने के क्रम में ड्रॉइंग, रचना (कम्पोजिशन) और अन्य सौंदर्यात्मक विचारों के संयोजन से है। चित्रकला (पेंटिंग) को आध्यात्मिक रूपांकनों और विचारों की अभिव्यक्ति में भी इस्तेमाल किया जाता हैय इस प्रकार की चित्रकला को सिस्टिन चौपल के बर्तनों पर पौराणिक पात्रों को दर्शाने वाली कलाकृतियों से लेकर स्वयं मानव शरीर पर भी देखा जा सकता है।

रंग चित्रकारी का सार है जिस तरह संगीत का सार आवाज है। रंग अत्यंत व्यक्तिपरक होता है लेकिन इसमें प्रत्यक्ष मनोवैज्ञानिक प्रभाव मौजूद होते हैं, हालांकि इनमें

एक संस्कृति से दूसरी में भिन्नताएं हो सकती हैं। पश्चिम में काला रंग शोक के साथ जुड़ा हुआ है लेकिन कहीं और यह सफेद हो सकता है। गेटे, कैंडिंस्की, आइजक न्यूटन सहित कुछ चित्रकारों, सिद्धांतकारों, लेखकों और वैज्ञानिकों ने अपनी स्वयं की कलर थ्योरी लिखी है। इसके अलावा भाषा का उपयोग रंग के किसी समकक्ष के लिए केवल एक सामान्यीकरण है। उदाहरण के लिए लाल शब्द स्पेक्ट्रम के शुद्ध लाल रंग पर विविधताओं की एक व्यापक श्रृंखला को कवर करता है। विभिन्न रंगों का इस तरह से कोई औपचारिक रजिस्टर नहीं है जिस तरह संगीत में अलग–अलग नोट्स का सामंजस्य होता है। हालांकि छपाई और डिजाइन उद्योग में इस उद्देश्य के लिए पैंटोन सिस्टम का व्यापक रूप से इस्तेमाल किया जाता है।

आधुनिक कलाकारों ने चित्रकारी के अभ्यास का काफी हद तक अन्य स्वरूपों में विस्तार किया है जैसे कि कोलाज (बवसससंहम). इसकी शुरुआत क्यूबिज्म के साथ हुई और सही मायनों में यह चित्रकारी (पेंटिंग) नहीं है। कुछ आधुनिक चित्रकार अपनी संरचना (टेक्सचर) के लिए विभिन्न सामग्रियों, जैसे कि रेत, सीमेंट, पुआल या लकड़ी को शामिल करते हैं। जीन डुबुफेट या एन्सेल्म कीफर की रचनाएं इसके उदाहरण हैं। आधुनिक और समकालीन कला परिकल्पना के फ्लेवर में शिल्प कला के ऐतिहासिक मूल्य से दूर हो गयी हैय इसी कारण कुछ लोगों ने कहा है कि एक गंभीर कला के रूप में चित्रकारी की मौत हो गयी है, हालांकि इसने ज्यादातर कलाकारों को पूरी तरह से या अपनी रचनाओं के एक हिस्से के रूप में इसका निरंतर इस्तेमाल करने से विचलित नहीं किया है।

ज्योतिषशास्त्र का एक अंग चित्रकला को कहा जा सकता है। वास्तुशास्त्र का एक विभाग आलेख्य है जो चित्रकला का ही पर्याय है। चित्रकला हेतु प्रयुक्त रंगों व भावों का विश्लेषण करके अप्रयोज्य व प्रयोज्य चित्रों का गृहादि में निवेशन के विषय में वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में सुविस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। ज्योतिषशास्त्र में चित्रकार होने के योगें का भी वर्णन प्राप्त होता है। कुछ योग आपके ज्ञान के लिए यहाँ वर्णित किये जा रहे हैं–

यदि आत्मकारक के नवांश में बुध हो तो जातक चित्रकार होता है(जैमिनिसूत्र 1/2/17)। बुध जिस द्रेष्काण में स्थित है यदि उस द्रेष्काण की राशि केन्द्र में हो और शनि द्वारा दृष्ट हो तो जातक कुशल चित्रकार होता है(जातकाभरण व्ययभावविचार 15)।

इसी प्रकार सारावली (अध्याय 23 व 33)में चित्रकारयोगों का वर्णन मिलता है। इसके अनुसार यदि धनुराशि में बुध से दृष्ट चन्द्र स्थित हो अथवा मकरराशि में स्थित चन्द्र को सूर्य देख रहा हो अथवा जन्मसमय में चन्द्र कुम्भराशि में विद्यमान हो तो जातक चित्रकार बनता है। इसी प्रकार यदि दशम भाव में शनि व शुक्र की युति हो अथवा चन्द्र से दशम भाव में भौम, बुध व शुक्र होते हैं अथवा चन्द्र से दशम भाव में सूर्य, मंगल, बुध व शुक्र हों तो जातक उत्तम चित्रकार बनता है। जातक पारिजात (अध्याय 8 एवं 15) में वर्णित है कि बुध यदि सप्तमभाव में हो, अथवा केतु यदि दशमभाव में हो तो जातक चित्रकार बनता है। यदि चन्द्र से दशम भाव में शनि व शुक्र हो तो भी जातक चित्रकार होता है। इसी प्रकार बृहज्जातक (17/9, 18/2 तथा 23/6) में कहा गया है कि यदि धनु राशि का चन्द्र हो, अथवा सूर्य कन्याराशि में हो या बुध द्रेष्काण में स्थित होकर केन्द्र में शनि से दृष्ट हो तो जातक चित्रकार बनता है। इसी प्रकार बुध के प्रभाव से भी जातक चित्रकार बनता है। यदि केन्द्रस्थ शनि बुध से युक्त हो अथवा बली बुध केन्द्र में हो या बुधगुरु का योग हो तो भी जातक चित्रकला मर्मज्ञ होता है (जातकतत्त्व प्रथम विवेक 113–115)।

2.4.12 पाककला एवं ज्योतिष –

पाककला अर्थात् भोजन निर्माण का ज्ञान कराने वाली कला। भारत में भोजन निर्माण करना अत्यन्त प्राचीन काल से ही कला के रूप में विद्यमान रही है। भोजन न केवल सुस्वादु हो अपितु सुपाच्य एवं स्वास्थ्य के अनुकूल भी हो, इस बात का ध्यान पाककला में रखा जाता है। महाभारत में नल, भीम आदि सुप्रसिद्ध पाककला विशेषज्ञों का वर्णन प्राप्त होता है। ज्योतिष शास्त्र के संहिता स्कन्ध में विविध प्रकार के भोज्य फल, शाक, अन्नादि का वर्णन प्राप्त होता है, जो पाककला के प्रति ज्योतिष की अवधानता को प्रकट करते है। फल, शाक, दुग्ध, अन्नादि की उत्पत्ति व उपलब्धता किस वर्ष किस प्रकार रहेगी? ग्रहों के प्रीत्यर्थ किस प्रकार का भोजन खाना व दान करना चाहिए? ऋत्वनुकूल कौन कौन से भोजन होते हैं? इन बातों का भी यत्र तत्र वर्णन ज्योतिष में प्राप्त होता है। ज्योतिष शास्त्र में पाककला में निपुण जातक के योग प्राप्त होते हैं, जिनमें से कुछ आपके ज्ञानार्थ प्रस्तुत हैं –

यदि जातक की कुण्डली में चन्द्र, मंगल, गुरु, शुक्र व शनि इन पांचग्रहों का एक ही भाव में योग हो तो जातक पाक कला में निपुण होता है (लग्नचन्द्रिका 4/1)। इसी प्रकार एक ही भाव में गुरु व शनि का योग भी जातक को पाककला में निपुण बनाता है(4/17)। कन्याराशि में यदि चन्द्र हो तो जातक पाककला को जानने वाला होता है।

2.4.13 कामकला एवं ज्योतिष

भारतीय चिन्तनधारा में काम को पुरुषार्थ चतुष्टय में परिगणित किया जाता है। काम के बिना सन्तानोत्पत्ति असम्भव है, जिसके बिना सृष्टिक्रम बाधित हो सकता है। परन्तु यह काम भी धर्मपूर्वक एवं सुखमय होना चाहिए, जिससे स्त्रीपुरुष प्रसन्नचित्त होकर क्रीडा करें और उत्पन्न सन्तति मेधावी व सुयोग्य हो। वराहमिहिर के बृहत्संहिता में जहाँ एक ओर पुरुषलक्षणाध्याय एवं कन्यालक्षणाध्याय में पुरुषों व स्त्रियों के शुभाशुभ अंगलक्षण वर्णित हैं, वहीं दूसरी ओर स्त्रीप्रशंसाध्याय, सौभाग्यकरणाध्याय, कान्दर्पिकाध्याय, स्त्रीपुंससमायोगाध्याय जैसे अध्यायों में कामकला सम्बन्धित चर्चा प्राप्त होती है। गन्धयुक्त्यध्याय में पुरुषादियों को सौन्दर्यवर्धन हेतु केश, दन्त, मुखादि की सज्जा विधान वर्णित है। स्त्रीप्रशंसा करते हुए वराहमिहिर कहते हैं कि –

जये धरित्र्याः पुरमेव सारं पुरे गृहं सद्मनि चैकदेशः।

तत्रापि शय्या शयने वरा स्त्री रत्नोज्ज्वला राज्यसुखस्य सारः।। –स्त्रीप्रशंसाध्याय 1

अर्थात् सम्पूर्ण पृथिवी जीत लेने पर भी केवल राजधानी ही साररूप है। उस राजधानी में भी साररूप अपना घर, अपने विस्तृत घर में भी अपने रहने का स्थान, उस स्थान में भी शयनकक्ष, शयनकक्ष में भी शय्या और शय्या में भी रत्नों से अलंकृत स्त्री ही राज्यसुख का सार है। इसी प्रकार वे कहते हैं कि स्त्रियों के समान कोई अन्य वस्तु पवित्र नही है। कभी भी वे दोषयुक्त नहीं होती क्योंकि प्रत्येक मास स्रवित होने वाला उनका रज उनके पापों का हरण कर लेता है(स्त्रीप्रशंसाध्याय 9)। कामकला के मन से सम्बन्ध के विषय में वराहमिहिर कहते हैं कि –

जात्यं मनोभवसुखं सुभगस्य सर्वमाभासमात्रमितरस्य मनोवियोगात्।

चित्तेन भावयति दूरगतापि यं स्त्री गर्भं बिभर्ति सदृशं पुरुषस्य तस्य।।

–(सौभाग्यकरणाध्याय 1)

इसी प्रकार वे स्त्रीपुंससमायोगाध्याय के श्लोक 14 में कहते हैं कि – **मनो हि मूलं हरदग्धमूर्तेः।** अर्थात् कामदेव का मूलस्थान मन ही है। ज्योतिष शास्त्र में कामविरक्त स्त्री के विषय में अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। यथा –

शस्त्रेण वेणीविनिगूहितेन विदूरथं स्वा महिषी जघान।

विषप्रदिग्धेन च नुपुरेण देवी विरक्ता किल काशिराजम्।।–स्त्रीपुंससमायोगाध्यायश्लो. 14

स्त्रीसम्प्रयोगकाल के शुभयोग का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि–

केन्द्रत्रिकोणेषु शुभस्थितेषु लग्ने शशांके च शुभैः समेते।

पापैस्त्रिलाभारिगतैश्च यायात् पुंजन्मयोगेषु च सम्प्रयोगम्।।–स्त्रीपुंससमायोगा. श्लो. 14

इसी प्रकार ज्योतिष शास्त्र के अन्यग्रन्थों में भी गर्भाधानमुहूर्तादि का वर्णन प्राप्त होता है। ज्योतिष शास्त्र में शुक्र को कामकला का कारक ग्रह माना जाता है। कालपुरुष के काम का प्रतिनिधित्व ग्रह शुक्र ही है। इसके आधार पर जातक के कई कामकलानिपुण होने के योगों का वर्णन ज्योतिषशास्त्र में वर्णित होता है। आपके ज्ञानार्थ कुछ योगों का वर्णन दिया जा रहा है–

जातकपारिजात (द्वयादिग्रहयोगाध्याय 63) के अनुसार शुक्र द्वितीय स्थान में हो तो जातक कामकला का ज्ञाता होता है। प्राचीनकाल में वेश्याओं को कामकला का ज्ञाता माना जाता था। ज्योतिष शास्त्र में वेश्यायोगों के वर्णन के साथ ही इसके माध्यम से धनप्राप्तियोगों का भी वर्णन मिलता है। जातकाभरण (लाभभावविचार श्लोक 07) के अनुसार यदि एकादशभाव में शुक्र का वर्ग हो और वह भाव शुक्र से युत या दृष्ट हो तो जातक वेश्या के माध्यम से धन लाभ करता है। इसी प्रकार मकर या कुम्भ में स्थित शुक्र चन्द्र से दृष्ट हो तो भी उक्त योग बनता है (जा.भ.दृष्टिफला.42)।

अभ्यासप्रश्न

14. यदि आत्मकारक का नवांश बुध हो तो जातक क्या बनता है?
15. गायन, वादन एवं नृत्य का संयुक्त रूप ही क्या है?
16. नृत्य किसे कहा जा सकता है?
17. नाट्यशास्त्र के रचयिता कौन हैं?
18. वास्तुशास्त्र के मुख्य तीन भेद कौन कौन से हैं?

19. एक ही भाव में किन दो ग्रहों का योग जातक को पाककला में निपुण बनाता है?

20. **मनो हि मूलं हरदग्धमूर्तेः इस सूक्ति का अर्थ बताइये।**

2.5 ज्योतिष के मानविकी उपयोग

ज्योतिषशास्त्र का मानविकी विषयों से सम्बन्ध इस पाठ्यांश के द्वारा आप जान ही चुके हैं। अब प्रश्न उठता है कि ज्योतिष शास्त्र का मानविकी क्षेत्र में क्या उपयोग हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर ज्योतिषशास्त्र के फलकथन पद्धति में छिपा हुआ है। मनुष्य का अध्ययन करने वाला शास्त्र ज्योतिषशास्त्र है। इस कारण उसके व्यवहार, मनःस्थिति, रूचि, क्षमता आदि का पूर्वाभास ज्योतिष जातक की कुण्डली के आधार पर कर लेता है। ज्योतिष का मुख्य उद्देश्य ही फलादेश कर मनुष्य के दुःखों का शमन कर उसे पुरुषार्थसाधन हेतु अभिप्रेरित करना है। मानव के दुःखों के लिए उसके कर्म ही जिम्मेदार हैं। उन त्रिविध कर्मों – संचित, प्रारब्ध एवं क्रियमाण के फल का प्राप्ति काल जानने हेतु ज्योतिषशास्त्र योगायोग विचार, दशाविचार एवं गोचर विचार, इन तीनों का ही विश्लेषण करता है। जिससे प्राप्त निष्कर्ष के द्वारा वह मनुष्य को भावी दुःख के लिए सचेत तथा शुभत्व के लिए प्रयासशील करता है। अतः ज्योतिषशास्त्र मानविकी के क्षेत्र में अत्यन्त उपादेय हो सकता है। जैसे जातक की कुण्डली के आधार पर उसके चारित्रिक पतन होने की आशंका का विचार करके अथवा चोरी इत्यादि अपराधों की ओर प्रवृत्ति होने की सम्भावना को देखकर उसे उस मार्ग पर जाने से रोकने का प्रयास किया जा सकता है। इस पाठ्यांश में मानविकी के विभिन्न विषयों से सम्बन्धित अनेक योगों का वर्णन किया गया है। इन योगों के अनुसार जातक की रुचि एवं सामर्थ्यानुकूल उसे आजीविका हेतु प्रेरित किया जा सकता है। जैसे किसी की कुण्डली के विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि जातक का व्याकरण शास्त्र में अभिरुचि है, तो उसे इसी शास्त्र के अध्ययन की ओर प्रवृत्त किया जा सकता है। मानविकी विषयों में ज्योतिषशास्त्र की उपादेयता एवं सम्भावनाओं को देखते हुए अनेक प्रयोग किए जा रहे हैं, क्योंकि शिक्षा, स्वास्थ्य, धर्म, अर्थ, काम, आत्मचिन्तन, रोजगार आदि विषय मानव से जुडे हुए हैं। वस्तुतः मानव जीवन से सम्बन्धित समस्त विषयों का सम्बन्ध मानविकी से है। ज्योतिषशास्त्र का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से मानव जीवन से होने के कारण यह शास्त्र मानविकी के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

अभ्यास प्रश्न

21. मनुष्य का अध्ययन करने वाला शास्त्र कौन सा है?
22. व्यवहार, मनःस्थिति, रूचि, क्षमता आदि का पूर्वाभास ज्योतिषशास्त्र किस आधार पर कर लेता है?
23. ज्योतिष का मुख्य उद्देश्य क्या है?
24. मानव जीवन से सम्बन्धित समस्त विषयों का सम्बन्ध किससे है?
25. जातक को किस आधार पर आजीविका हेतु प्रेरित किया जा सकता है?

2.6 सारांश

प्रस्तुत पाठ में आपने जाना कि संहिता खण्ड के बृहत् कलेवर में भूगोलशास्त्र, भूगर्भविज्ञान, आन्तरिक्षविज्ञान, स्वरशास्त्र, शकुनशास्त्र, वास्तुकला, शिल्पकला, आलेखन, हस्तरेखाविज्ञान, भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि का समावेश है। जिनका मानव जीवन में विशेष महत्त्व है, जो ज्योतिषशास्त्र के महत्त्वपूर्ण सहायक है। इस प्रकार मानव से सम्बन्धित प्रायः प्रत्येक पहलू पर ज्योतिषशास्त्र अपना दृष्टिकोण एवं परामर्श प्रस्तुत करता है। मानव से सम्बन्धित प्रायः सभी पहलुओं का अध्ययन मानविकी के अन्तर्गत आता है। मानविकी का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है जिसमें भाषा विज्ञान, साहित्य, कानून, इतिहास, दर्शन, धर्म, दृश्यकला, अभिनय कला, नृत्य, संगीत, चित्रकला, पाककला एवं कामकला हैं। मानविकी के इन समस्त विषयों के साथ मानव जीवन के विभिन्न पक्षों पर ज्योतिष सुनियोजित एवं सुस्पष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। आपने उपर्युक्त समस्त विषयों का ज्योतिष से सम्बन्ध और उनके विशेषज्ञ होने के ज्योतिषीय योगों के बारे में सुविस्तृत अध्ययन प्रस्तुत पाठ में किया। अन्त में ज्योतिष शास्त्र का मानविकी क्षेत्र में क्या उपयोग हो सकता है? इस विषय में जाना कि ज्योतिषशास्त्र योगायोग विचार, दशाविचार एवं गोचर विचार, इन तीनों का ही विश्लेषण कर मनुष्य को भावी दुःख के लिए सचेत तथा शुभत्व के लिए प्रयासशील करता है। अतः ज्योतिषशास्त्र मानविकी के क्षेत्र में अत्यन्त उपादेय हो सकता है। आशा है कि प्रस्तुत पाठ के अध्ययन से आप मानविकी में ज्योतिषशास्त्र की भूमिका एवं उपादेयता को भलीभांति समझ चुके होंगे।

2.7 शब्दावली

त्रिस्कन्ध – तीन भागों वाला
मानवपरकशास्त्र – मनुष्य से सम्बन्धित शास्त्र
समसामयिक – उस उस समय से सम्बन्धित
विविध – अनेक प्रकार के

बृहत् कलेवर – बडे शरीर
समावेश – अन्तर्गत होना
अपत्य – सन्तान
संकुचित – छोटा
समुचित – ठीक प्रकार की, अच्छी
विस्तृत – फैला हुआ
अन्वेषक – खोज करने वाला
निदिध्यासन – अभ्यास करना
हृदयंगम – हृदय में उतरना, ठीक तरह से समझना
उत्कृष्ट – सबसे अच्छे
महत्ता – महानता, महत्व
व्यक्त वाक् – बोली जाने वाली वाणी,
निहित – लगा होना, घुसी हुई
पोषित – पुष्ट होना, मजबूत होना
अल्पमति – कम बुद्धिवाला, मूर्ख
वादी – बोलने वाला
प्रविष्ट – प्रवेश करके
अनर्गल – अनाप शनाप, तर्कहीन
उपहास – हँसी होना
निबद्ध – बंधे होने, रचे होने
साहचर्य – साथ चलने वाले
कारकांश – आत्मकारक के नवमांश
ब्रह्मानन्दसहोदर – परमब्रह्म के साक्षात्कार होने जैसी अनुभूति
विश्रान्ति – थकावट दूर होना
संप्रभु – सर्व शक्तिमान् व सामर्थ्यशाली, जिसके मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता।
कानूनविद् – कानून को जानने वाले
अंतर्दृष्टि – अन्दर की ओर देखना
विपुल – बहुत बडे, अत्यधिक
गोपुरांश – दशवर्ग कुण्डली में यदि चार वर्गों में ग्रह अपने गृह का हो तो यह योग बनता है।
सिंहासनांश – दशवर्ग कुण्डली में यदि पांच वर्गों में ग्रह अपने गृह का हो तो यह योग बनता है।

उत्तमांश – दशवर्ग कुण्डली में यदि तीन वर्गों में ग्रह अपने गृह का हो तो यह योग बनता

है।

पारावतांश – दशवर्ग कुण्डली में यदि छह वर्गों में ग्रह अपने गृह का हो तो यह योग बनता है।

देवलोकांश– दशवर्ग कुण्डली में यदि सात वर्गों में ग्रह अपने गृह का हो तो यह योग बनता है।

नैमित्तिक – किसी निमित्त के लिए

विधा – प्रकार

वीणायोग – जातक की कुण्डली में सात स्थानों में सातों ग्रह रहें तो यह योग बनता है।

समादृत –आदर किया हुआ, माना हुआ

सन्तति – सन्तान, पुत्र या पुत्री

स्रवित – बहने वाला

हरदग्धमूर्ति – शिव के द्वारा भस्म किया हुआ है जिसका शरीर अर्थात् कामदेव

गोचर विचार – ग्रहों की तात्कालिक स्थिति के अनुसार फलादेश करने की विधि

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

1. 'मनोरपत्यम् मनोर्गोत्रापत्यं वा पुमान्' मनु की सन्तान को मानव कहा जाता है।
2. मानव से सम्बन्धित जो भी विषय हैं, वे सब मानविकी हैं। इसमें प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के मुख्यतः अनुभवजन्य दृष्टिकोणों के विपरीत, मुख्य रूप से विश्लेषणात्मक, आलोचनात्मक या काल्पनिक विधियों का प्रयोग कर मानवीय स्थिति का अध्ययन किया जाता है।
3. धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष
4. मानव की आवश्यकता एवं उद्देश्यों के दृष्टिकोण से इन्हें तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है – क. धार्मिक एवं सामाजिक उद्देश्य ख. सांस्कृतिक उद्देश्य ग. आर्थिक उद्देश्य।
5. इतिहास, नृत्य, अभिनय, पाककला, साहित्य संगीत आदि
6. ज्योतिश्शास्त्र व्यक्ति एवं उसके व्यवहार का कुण्डली आदि के द्वारा अध्ययन कर उसके भावी सुखदुःखादि का पूर्वानुमान करता है।
7. आचार्य दण्डी
8. वेद का मुख अर्थात् व्याकरण
9. भामह के अनुसार शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् अर्थात् शब्द और अर्थ के साहचर्य भाव का प्रतिपादक काव्य होता है।

10. कानून का मतलब है एक ऐसा नियम (नैतिकता के नियमों के विपरीत) जिसे संस्थाओं के माध्यम से लागू किया जा सकता है।

11. लग्न या चन्द्र से दशमेश गुरु के नवांश में हो तो भी पुराणागम शास्त्रों से धनप्राप्ति करता है।

12. तीन भेद – संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण

13. जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म भी उसकी रक्षा करता है।

14. चित्रकार

15. संगीत

16. संगीत के साथ शारीरिक भाव भंगिमा के द्वारा अभिनय करने की कला को नृत्य कहा जा सकता है।

17. भरत मुनि

18. वास्तुशास्त्र के तीन भेद किए जा सकते हैं– स्थापत्य, शिल्प व आलेख्य

19. एक ही भाव में गुरु व शनि का योग भी जातक को पाककला में निपुण बनाता है।

20. कामदेव का मूलस्थान मन ही है।

21. ज्योतिषशास्त्र

22. जातक की कुण्डली के आधार पर

23. फलादेश कर मनुष्य के दुःखों का शमन कर उसे पुरुषार्थसाधन हेतु अभिप्रेरित करना।

24. मानविकी

25. रुचि एवं सामर्थ्यानुकूल

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1.सिद्धान्तशिरोमणि – भास्कराचार्य – सम्पादक बापूदेवशास्त्री – चौखम्भा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, संस्करण –1929

2. जातक तत्त्व – आचार्य महादेव पाठक – सम्पादक हरिशंकरपाठक– चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण –2009

3. जैमिनि सूत्र – जैमिनिमुनि – सम्पादक अच्युतानन्द झा – चौखम्भा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, संस्करण –2008

4. बृहत्पाराशर होरा शास्त्र –पाराशरमुनि– सम्पादक पं. पद्मनाभ शर्मा– चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण –2012

5. जातकाभरण – ढुण्ढिराज– सम्पादक अच्युतानन्द झा– चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2008

6. जातकपारिजात– वैद्यनाथ– सम्पादक कपिलेश्वर चौधरी– चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, संस्करण 2013

7. बृहज्जातक– वराहमिहिराचार्य– सम्पादक केदारदत्त जोशी– मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली, संस्करण 2002

8 लग्नचन्द्रिका– काशीनाथ दैवज्ञ– सम्पादक वासुदेव शर्मा– ठाकुरप्रसाद बुक सेलर, चौक वाराणसी, संस्करण –190

9. मानसागरी – मानसागर– सम्पादक भारतीयोगी– संस्कृति संस्थान बरेली, संस्करण –1986

10. बृहत्संहिता – वराहमिहिराचार्य– सम्पादक अच्युतानन्द झा– चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2010

11. सारावली – कल्याणवर्मा– सम्पादक मुरलीधर चतुर्वेदी– मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, संस्करण 2004

12. फलित ज्योतिष – रामकिशोर शर्मा – रचना प्रकाशन, जयपुर, संस्करण –2012

13. विकीपीडिया इन्टरनेट

1.10 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री –

1. भारतीय ज्योतिष– आचार्य नेमिचन्द्रशास्त्री– ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली संस्करण –2002

1.11 निबन्धात्मक प्रश्न –

1. मानविकी का अर्थ एवं क्षेत्र स्पष्ट करते हुए इसके लिए ज्योतिष की उपादेयता पर प्रकाश डालें।

2. भाषाविज्ञान एवं ज्योतिष के परस्पर सम्बन्ध बताते हुए भाषाविज्ञानी के कुछ प्रमुख ज्योतिषीय योगों का वर्णन करें।

3. साहित्य की परिभाषा स्पष्ट करते हुए ज्योतिषीय योगों का विवेचन कीजिए।

4. धर्म और ज्योतिष के सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।

5. दर्शनशास्त्र एवं ज्योतिष के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए दार्शनिकयोगों की विवेचना कीजिए।

6. दृश्यकला के क्षेत्र में ज्योतिष की सहभागिता पर प्रकाश डालते हुए चित्रकार बनने के ज्योतिषीय योग वर्णित कीजिए।

7. संगीत व नृत्य के महत्व को परिभाषित करते हुए संगीतज्ञ योगों का वर्णन कीजिए।

8. अभिनयकला एवं ज्योतिष पर अपने विचार रखिए।

9. पाककला एवं ज्योतिष के सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।

10 ज्योतिष में कामकला विषयक चर्चाओं पर प्रकाश डालिए।

11. मानिविकी विषयों में ज्योतिष की उपादेयता पर प्रकाश डालिए।

इकाई – 3 समस्याओं के समाधान में उपयोगिता

पाठ संरचना

3.1. प्रस्तावना
3.2. उद्देश्य
3.3. ज्योतिष एवं समस्याऐं
3.4. समस्याओं के भेद
3.4.1. प्राकृतिक समस्याऐं
3.4.1.1. भौम समस्याऐं
3.4.1.2. आन्तरिक समस्याऐं
3.4.1.3. दिव्य समस्याऐं
3.4.1.4. प्राकृतिक समस्याओं की शान्ति
3.4.2. मानवीय समस्याऐं
3.4.2.1. आध्यात्मिक समस्याऐं
3.4.2.2. आधिभौतिक समस्याऐं
3.4.2.3. आधिदैविक समस्याऐं
अभ्यासप्रश्न
3.5. ज्योतिष द्वारा समस्याओं का समाधान
3.5.1. पूर्वानुमान द्वारा समस्याओं का समाधान
3.5.2. ग्रहों की शान्ति द्वारा समस्याओं का समाधान
3.5.2.1. वैदिक उपायों द्वारा ग्रहों की शान्ति
3.5.2.2. जप, दान आदि क्रियाओं द्वारा अरिष्ट शान्ति
3.5.2.2.1. सूर्य शान्त्यर्थ उपाय
3.5.2.2.2. चन्द्र शान्त्यर्थ उपाय
3.5.2.2.3. मंगल शान्त्यर्थ उपाय
3.5.2.2.4. बुध शान्त्यर्थ उपाय
3.5.2.2.5. गुरु शान्त्यर्थ उपाय
3.5.2.2.6. शुक्र शान्त्यर्थ उपाय
3.5.2.2.7. शनि शान्त्यर्थ उपाय
3.5.2.2.8. राहू शान्त्यर्थ उपाय
3.5.2.2.9. केतु शान्त्यर्थ उपाय

अभ्यास प्रश्न
3.6. सारांश
3.7. शब्दावली
3.8. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.9. सन्दर्भग्रन्थ/सहायक ग्रन्थ सूची
3.10. निबन्धात्मक प्रश्न

3.1. प्रस्तावना

प्रत्येक जीव स्वयं की सत्ता को बचाए रखने के लिए निरन्तर क्रियाशील रहता है जिसके परिणामस्वरूप वह प्रजाति निरन्तर विकसित होती है यह एक सतत प्रक्रिया है। मनुष्य ने भी अपनी बुद्धि को सत्ता का केन्द्र माना और निरन्तर चिन्तन प्रक्रिया का वहन करते हुए आदि काल से आधुनिक काल तक का यह विकसित स्वरूप पाया है। वैदिक काल से ही मनुष्य को अन्य जीवों से भिन्न माना गया है, यह भिन्नता मनुष्य की बुद्धि की अतुलित प्रतिभा का ही परिणाम थी। मानव जीवन को व्यवस्थित करने एवं उसके निरन्तर प्रगतिशील रहने के लिए आदिकाल से ही मानव सभ्यता ने अनेक प्रयास किए। मानवों ने अपने अनुभवों के आधार पर नित नई खोजें की, जिनका वर्णन वैदिक कालीन इतिहास में विस्तार से देखा जा सकता है।

मनुष्य ने स्वयं को बांधने के लिए काल की परिकल्पना की जिसमें वह अपनी समस्त क्रियाओं को बांधकर रख सके। काल की परिकल्पना का ही व्यवस्थित विकसित रूप ज्योतिष है जिसका मूल विषय कालचिन्तन है। काल को तीन भागों में विभक्त किया गया – वर्तमानकाल, भूतकाल और भविष्यकाल। वर्तमान एक निरन्तर गतिशील प्रक्रिया है भूतकाल अनादि और सान्त प्रक्रिया है तथा भविष्य को सादि-अनन्त प्रक्रिया का स्वरूप माना गया है । मनुष्य ने काल के इस स्वरूप को अपने जीवन से जोड़कर रखा जिसका उपयोग उसने अपने कार्यो को सम्पादित करने के लिए किया। लगातार विकसित होते हुए काल में उचित और अनुचित का चिन्तन करना मनुष्य ने प्रारम्भ कर दिया। उचित काल को स्वीकार किया गया तथा अनुचित काल को त्याग दिया गया। काल चिन्तन के इसी विकास क्रम ने बाद में ज्योतिष का स्वरूप धारण किया।

ज्योतिषशास्त्र पुरुषार्थ सिद्धि के लिए उपयोगी है। ज्योतिष के माध्यम से ग्रहों की गति, धूमकेतु, उल्कापात आदि की गणितीय प्रक्रिया द्वारा उनकी स्थिति-गति तथा ग्रहों का मानव जीवन पर एवं प्रकृति पर होने वाले प्रभावों का अध्ययन किया जाता है । देश काल एवं परिस्थिति के चिन्तन द्वारा किसी समस्या के निष्कर्ष तक पहुंचकर उसके समाधान में ज्योतिष की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वैदिक दर्शन के अनुसार छः वेदाङ्गों (शिक्षा-कल्प-निरुक्त-व्याकरण-छन्द-ज्योतिष) में ज्योतिष को वेद का नेत्ररूप कहा गया है। वेदाङ्ग ज्योतिष के अनुसार ज्योतिष को वेदाङ्गों में भी प्रधानता से स्वीकार किया गया है–

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो तथा ।

तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्ध्नि संस्थितम् ।। (वेदाङ्गज्योतिष श्लो. 3)

निरन्तर विकास के पथ पर मनुष्य को जिन-जन समस्याओं का अनुभव हुआ उसने उन सभी समस्याओं से बचने के अनेक प्रयास किए। जिसके परिणामस्वरूप अनेकों खोजें हुई जिसे विज्ञान कहा गया। उन समस्याओं के काल विशेष में घटित होने के कारण उनका ज्योतिषशास्त्रीय अध्ययन भी मनुष्य ने किया । सर्वप्रथम मानवों ने समस्या का पता लगाया और उसके कारणों का चिन्तन किया। ज्योतिष के अनुसार मानव ने उन समस्त समस्याओं का निराकरण करने के लिए गहन अध्ययन किया। प्रस्तुत इकाई में हम मानव जीवन की उन सभी समस्याओं का अध्ययन कर उनका ज्योतिष शास्त्रीय अध्ययन करेंगे जिनका वर्णन हमारे ऋषियों ने ग्रन्थों में किया है तत्पश्चात् उनके समाधान के सन्दर्भ में ज्योतिषशास्त्रीय अध्ययन करेंगे।

3.2. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप –

1. ज्योतिष शास्त्र एवं मानव जीवन के अन्तः सम्बन्ध का अध्ययन करेंगे
2. समस्याओं का समझ सकेंगे
3. ज्योतिष शास्त्र के अनुसार उनके समाधान का अध्ययन करेंगे
4. ज्योतिष एवं समस्याओं के अन्तःसम्बन्ध को जान सकेंगे
5. ज्योतिष के विविध आयामों को समझ सकेंगे
6. ज्योतिषीय दृष्टिकोण से समस्याओं के समाधान को जान सकेंगे ।

3.3. ज्योतिष एवं समस्याऐं

जीवन में समस्याओं का आना जाना लगा रहता है । ये समस्याऐं निरन्तर मानव के कार्य में बाधा उत्पन्न करती हैं । इन समस्याओं को हम ज्योतिष के अनुसार काल की गणना द्वारा जान सकते हैं । घटने वाली घटनाओं को समझने हेतु ज्योतिष महत्वपूर्ण विज्ञान है । ज्योतिष के द्वारा घटने वाली घटनाओं को पूर्वानुमान लगाकर उसके घटने से रोकने के प्रयास किए जाते हैं । समस्याओं के अनेक

प्रकार हो सकते हैं। ज्योतिष शास्त्र द्वारा इन समस्याओं का समाधान अनेक प्रकारों से किया जाता है। सर्वप्रथम समस्या का चिन्तन शुभाशुभ काल गणना के अनुसार होता है जिसमें समस्याओं का पूर्वानुमान किया जाता है। अधिकतर यही पद्धति वर्तमान में प्रयोग लाई जाती है इसमें भविष्य में होने वाली घटनाओं का पूर्वानुमान लगाकर उस घटना के होने से पहले ही तत्पर रहा जा सकता है जिसमें परिस्थितियों में परिवर्तन कर समस्या को टाला जा सकता है। अथवा कुप्रभावों को न्यून किया जा सकता है।

3.4. समस्याओं के भेद

समस्याओं को हम दो प्रकार से समझ सकते हैं प्राकृतिक एवं मानवीय। प्राकृतिक समस्याऐं सम्पूर्ण प्राणीवर्ग को प्रभावित करती हैं परन्तु मानवीय समस्याऐं केवल मानव समुदाय की समस्याऐं हैं। यह समस्याऐं सामुदायिक अथवा व्यक्तिगत हो सकती हैं। कुछ प्राकृतिक समस्याऐं विकृत होकर मानवीय समस्याओं का स्वरूप धारण कर लेती हैं जैसे अकाल पड़ना। मूल रूप से अकाल पड़ना एक प्राकृतिक समस्या है परन्तु इसकी विकृति अनेक रोगों को जन्म देती है। समस्त रोग मानवीय समस्याओं में गिने जाते हैं कुछ रोग प्राकृतिक उत्पातों के परिणामस्वरूप भी पैदा होते हैं, यही प्राकृतिक समस्याओं का विकृत स्वरूप मानवीय समस्या के रूप में है।

प्राकृतिक समस्याऐं प्रकृति से संबन्धित समस्याऐं हैं, यह भी तीन प्रकार की हैं भौम, आन्तरिक्ष एवं दिव्य। प्राकृतिक समस्याओं का प्रत्यक्ष प्रभाव प्रकृति पर तथा प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव मानव जाति पर पड़ता है।

मानवीय समस्याऐं मानव समुदाय की समस्याऐं हैं, यह शास्त्रों में तीन प्रकार की कही गई हैं आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक। इन समस्याओं का प्रत्यक्ष प्रभाव मानव पर पड़ता है।

3.4.1. प्राकृतिक समस्याऐं

प्रकृति के स्वाभाविक स्थिति से विपरीत परिवर्तन होने पर समस्याऐं उत्पन्न होती हैं। ये समस्याऐं मानवों पर अवश्य ही अपना प्रभाव डालती हैं। इन समस्याओं को शास्त्रों में उत्पात कहा गया है। यह उत्पात तीन प्रकार के होते हैं – भौम, अन्तरिक्ष और दिव्य। भौम उत्पात से आन्तरिक्ष

और आन्तरिक्ष से दिव्य उत्पात क्रमशः गुरुतर होते हैं। मत्स्य पुराण एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार इन उत्पातों की उत्पत्ति देवताओं के अप्रसन्न होने पर होती है।

प्रकृतिविरुद्धमपीदं प्राक्प्रबोधाय देवाः सृजन्ति इति। (अद्भुतसागर, उपोद्घात)

अद्भुतसागर के अनुसार देवतागण मनुष्यों को पूर्वज्ञान के लिए निमित्त रूप में प्रकृति के विरुद्ध (उत्पात) को उत्पन्न करते हैं।

पुरुषापचारान्नियतमपरज्यन्ति देवताः।

ततोऽपरागाद्देवानामुपसर्गः प्रवर्त्तते॥ (अद्भुतसागर, उपोद्घात)

अर्थात् मनुष्यों के अविनय (पापकर्म) से निश्चितरूप से देवतागण अप्रसन्न होते हैं और देवतागण अप्रसन्नता में उपद्रव (उत्पात) उत्पन्न करते हैं। प्राकृतिक समस्याऐं समष्टिगत समस्याऐं हैं, यह समस्त प्राणीवर्ग पर अपना प्रभाव डालती हैं।

3.4.1.1. भौम उत्पात

पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले उत्पातों को भौम उत्पात कहा गया है। यह उत्पात भूमि पर उत्पन्न प्रकृति के स्वभाव से विरुद्ध विकृतियां हैं। ये भौम उत्पात एकदेशिक होते हैं अर्थात् भौम उत्पात का सम्बन्ध पृथ्वी से होने के कारण सम्पूर्ण भू-मण्डल पर होना चाहिए, परन्तु जिस भू-भाग पर भौम उत्पात उत्पन्न होते हैं, वहीं के लोगों के लिए यह शुभ एवं अशुभ फलसूचक होते हैं –

चरस्थिरभवो भौमो भूकम्पश्चापि भूमिजः।

जलाशयानां वैकृत्यं भौमं तदपि कीर्तितम्॥ (अद्भुतसागर, उपोद्घात)

अर्थात् चलायमान वस्तु के स्थिर होने पर एवं स्थिर वस्तुओं के चलायमान होने से भूकम्प आदि एवं जलाशयों में जो विकार उत्पन्न होते हैं वह भौम उत्पात कहे गए हैं।

3.4.1.2. आन्तरिक्ष उत्पात

आन्तरिक्ष से संबन्धित उत्पात आन्तरिक्ष उत्पात कहलाते हैं । इन उत्पातों को नाभस उत्पात भी कहते हैं। भूमण्डल से ऊपर वायुगोल तक उत्पन्न इन उत्पातों से पृथ्वी पर प्रभाव पड़ता है । वायु, मेघ, सन्ध्या, उल्कापात, दिग्दाह, सूर्य-चन्द्र के परिवेष, गन्धर्वनगर, वर्षा के विकार (रक्तवृष्टि, पांशुवृष्टि, मेघों की आकृतिविशेष आदि) इन्द्रधनुष आदि से संबन्धित नकारात्मक परिवर्तनों को को आन्तरिक्ष उत्पात कहा जाता है।

3.4.1.3. दिव्य उत्पात

सूर्य, चन्द्रमा, राहु, केतु, ग्रह, नक्षत्रों आदि के विकार से महती दूर आकाश में जो उत्पात उत्पन्न होते हैं वह दिव्य उत्पात कहलाते हैं । इन उत्पातों की उत्पत्ति अनन्त आकाश में होती है इनका प्रभाव भूलोक, द्युलोक एवं अन्तरिक्ष सभी जगह पड़ता है। यह उत्पात भौम और आन्तरिक्ष की तुलना में अधिक प्रभाव डालता है।

3.4.1.4. प्राकृतिक समस्याओं की शान्ति

भौम, आन्तरिक्ष समस्याओं की शान्ति हो जाती है परन्तु दिव्य उत्पात शान्ति के बाद भी नष्ट नहीं हो पाते। अद्भुतसागर के अनुसार–

भौमं शान्तिहतं नाशमुपगच्छति मर्दितुम् ।

नाभसं न शमं याति दिव्यमुत्पातदर्शनम् ।।(अद्भुतसागर, उपोद्घात)

भौम उत्पात शान्ति से आहत होकर नष्ट हो जाता है, नाभस उत्पात कम हो जाता है और दिव्य उत्पात होने पर शान्ति से भी नष्ट नहीं होता।

भौम उत्पात की शान्ति के लिए सावित्री का लक्ष हवन एवं देवकार्य, ब्राह्मणों को दान करना चाहिए। भौम अरिष्ट की शान्ति के लिए गुरु एवं ब्राह्मण पूजन का भी विधान है, गुरु एवं ब्राह्मणों को भूमिदान, गोदान, आभूषणदान करने, धर्माचरण से भौम उत्पात जनित अरिष्ट नष्ट हो जाते हैं।[35] भौम-उत्पात के अनन्तर सात रात्रि के भीतर यदि जलवृष्टि हो तो भौम-अरिष्ट नष्ट हो जाते

[35] अद्भुतसागर, उपोद्घात पृ.13

हैं। व्रत, हवन, उपवास, दान तथा मांगलिक कार्यों से अन्तरिक्ष अरिष्ट नष्ट हो जाते हैं। मनीषियों ने दिव्य अरिष्टों को अव्यावर्त (नष्ट नहीं होने वाला) कहा है, परन्तु अत्यधिक अन्न दक्षिणादान, महाहोम, यज्ञादि, सुवर्णदान और शिवमन्दिर में गोदुग्ध दोहन से दिव्य अरिष्ट सम्भवतः शान्त हो जाते हैं।[36]

3.4.2. मानवीय समस्याऐं

मानवों से संबन्धित समस्याऐं अथवा मानवों की समस्याऐं मानवीय समस्याऐं कहलाती हैं अथवा जिन समस्याओं का सामना मानव समुदाय को करना पड़ता है वह मानवीय समस्याऐं हैं। दूसरे अर्थों में जिन समस्याओं का सामना केवल मानव समुदाय करता है वह मानवीय समस्याऐं कहलाती हैं । मानवीय समस्याओं को तीन भागों में विभक्त किया जाता हैं, आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आदिभौतिक । आध्यात्मिक समस्याऐं व्यक्तिगत होती हैं, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक समस्याऐं व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों तरह की हो सकती हैं । कुछ प्राकृतिक समस्याऐं विकृत होकर मानवीय समस्याओं के अन्तर्गत आती हैं जैसे भूकम्प, बाढ, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बिजली गिरना आदि। मानवीय समस्याऐं व्यक्तिगत एवं सामुदायिक दोनों तरह की हो सकती हैं। यह समस्याऐं मानवों की समस्याऐं हैं जिसके परिणामस्वरूप मानवों को दुःख होता है। सांख्यशास्त्र में इन्हें दुःखत्रय नाम से ही सम्बोधित भी किया गया है।

3.4.2.1. आध्यात्मिक समस्याऐं

शारीरिक एवं मानसिक विकृतियां ही आध्यात्मिक समस्याऐं कहलाती हैं। शरीर में ज्वर अतिसार आदि रोग शारीरिक समस्याऐं कहलाती हैं तथा प्रिय के वियोग से एवं अप्रिय के संयोग से मानसिक समस्याऐं उत्पन्न होती हैं। इन्हें देह में उत्पन्न होने के कारण दैहिक समस्याऐं भी कह सकते हैं । देहजन्य अनेक रोग अथवा बीमारी, बुभुक्षा, तितिक्षा, क्रोध, सन्ताप आदि आध्यात्मिक समस्याऐं हैं ।[37] यह सभी समस्याऐं व्यक्तिगत होती हैं इन समस्याओं के समाधान में मणि, मन्त्र, औषधि, दान, जप आदि का विधान शास्त्रों में मिलता है।

---

[36] अद्भुतसागर, उपोद्घात पृ.12

37 सांख्यकारिका2-1

3.4.2.2. आधिभौतिक समस्याऐं

आधिभौतिक दुःख बाहरी कारणों से उत्पन्न समस्याऐं हैं । आधिभौतिक समस्याऐं अनायास ही होती हैं। मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों एवं सर्पदंश आदि अन्य जीवों से प्राप्त समस्याऐं, अकारण बैर, विरोध, अकाल या महामारी, प्राकृतिक प्रकोप, भूकम्प या फसलों का नष्ट हो जाना आदि समस्याऐं आधिभौतिक समस्याऐं हैं। आन्तरिक्ष एवं भौम समस्याऐं जब मानव समुदाय पर अपना प्रभाव डालती हैं तब वह आधिभौतिक समस्याओं का स्वरूप धारण कर लेती हैं।

3.4.2.3. आधिदैविक

प्राकृतिक दिव्य समस्याऐं जब मानवों पर अपना प्रभाव डालती हैं तब उन्हें आधिदैविक समस्या कहा जाता है। सूर्यादि ग्रहों के आवेश से, भूत-प्रेत-पिशाचादि बाधाओं से, शीत, उष्ण, वर्षा, वायु आदि से उत्पन्न समस्याऐं जब मानवों पर अपना प्रत्यक्ष प्रभाव डालती हैं वह आधिदैविक समस्याऐं कहलाती हैं।[38] आधिदैविक समस्याऐं व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों प्रकार की होती हैं अधिकायत में इन समस्याओं का स्वरूप सामूहिक ही है अतः इनकी शान्ति हेतु सामूहिक यज्ञ, अनुष्ठान आदि धार्मिक कार्यों से ही निदान भी किया जाता है।

अभ्यास प्रश्न

1. समस्या क्या है ? परिभाषित कीजिए।
2. समस्याओं को कौन-कौन से मुख्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है ?
3. प्राकृतिक समस्याऐं क्या होती हैं ?
4. मानवीय समस्याऐं क्या हैं ?
5. दिव्य एवं आधिदैविक समस्याओं में क्या अन्तर है ?
6. भौम उत्पात क्या हैं ?
7. उत्पात कैसे उत्पन्न होते हैं ?
8. आन्तरिक्ष उत्पात को परिभाषित कीजिए ?
9. आध्यात्मिक समस्याओं को समझाइये ?

---

[38] सांख्यकारिका 2-1

10. आधिभौतिक समस्या किसे कहते हैं ?
11. भौम उत्पात की शान्ति कैसे होती है ?
12. आन्तरिक्ष उत्पात की शान्ति कैसे होती है ?
13. दिव्य उत्पात की शान्ति कैसे होती है ?
14. अव्यावर्त किसे कहते हैं ?

3.5. ज्योतिष द्वारा समस्याओं का समाधान

स्वस्थ एवं सुखमय जीवन की कामना प्रत्येक मानव का परम लक्ष्य है। मानव जीवन में समस्याओं का आना-जाना लगा रहता है। मानव ने भौतिक विकास के साथ-साथ समस्याओं के समाधान के लिए प्राचीन परम्परागत विद्याओं की भी सहायता ली और विज्ञान की भी। प्राचीन भारतीय विद्याओं का विज्ञान के साथ वैदिक काल से ही विशेष संबन्ध रहा है। ज्योतिष, आयुर्वेद, योग, वास्तुशास्त्र आदि समस्त विषय वैदिक काल से ही भारतीय जनमानस को आकर्षित किए हुए हैं, इनके माध्यम से मनुष्य ने अपने जीवन की सभी समस्याओं का समाधान करने का प्रयास किया है और अधिकांशतः सफल भी हुआ है। सभी समस्याओं के समाधान में ज्योतिष का महत्वपूर्ण स्थान है। घटने वाली घटनाओं का ज्योतिषीय गणनाओं द्वारा सर्वप्रथम पूर्वानुमान किया जाता है, तत्पश्चात् इन घटनाओं में से नकारात्मक घटनाओं को घटने से रोकने के प्रयास किए जाते हैं। इन समस्याओं के निराकरण हेतु ज्योतिषशास्त्रीय प्रयोग किए जाते हैं जिनमें से कुछ का वर्णन आगे किया गया है।

3.5.1. पूर्वानुमान द्वारा समस्याओं का समाधान

सर्वप्रथम ज्योतिषशास्त्र की सहायता से घटने वाली घटनाओं का पूर्वानुमान किया जाता है। पूर्वानुमान हेतु ग्रहों की स्थिति, गति आदि को जानने के लिए गणितीय प्रक्रिया का प्रयोग किया जाता है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार सभी घटनाओं का संबन्ध आकाशीय ग्रहों की अवस्था पर निर्भर करता है जिसके परिणामस्वरूप घटनाऐं घटती हैं। ग्रहों की स्थिति के आधार पर ही उन घटनाओं का समय ज्ञात किया जाता है। घटना का समय ज्ञात होने के पश्चात् वैदिक उपायों द्वारा, ग्रहों की शान्ति द्वारा, जप, तप, मणि, मन्त्र, औषधि, दानादि क्रियाओं द्वारा घटना को घटने से रोका जा सकता है अथवा उस घटना के प्रति सचेत रहा जा सकता है।

3.5.2. ग्रहों की शान्ति द्वारा समस्याओं का समाधान

सम्पूर्ण ज्योतिष वाङ्मय में ग्रहों व आकाशीय पिण्डों का महत्वपूर्ण स्थान है जिनके आधार पर पृथ्वी पर समस्त घटनाऐं घटती हैं। ग्रहों की शान्ति होने पर इन घटनाओं को घटने से टाला जा सकता है अथवा घटना के प्रभावों में न्यूनता लाई जा सकती है। ग्रहों की शान्ति के अनेक विधान परम्परागत शास्त्रीय ग्रन्थों में मिलते हैं। अब हम ग्रहों की शान्ति के कुछ मुख्य प्रकारों का अध्ययन करेंगे।

3.5.2.1. वैदिक उपायों द्वारा ग्रह शान्ति

वैदिक उपायों द्वारा समस्याओं के समाधान हेतु वैदिक यज्ञों का विवेचन वैदिक ग्रन्थों में किया गया है । वैदिक उपायों द्वारा सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान किया जाता है । रुद्राभिषेक, महामृत्युंजयादि अनुष्ठान, अथर्वशीर्षपाठ, वैदिक मन्त्रों का प्रयोग आदि उपायों द्वारा समस्याओं की शान्ति की जाती है। उपासना, तप आदि नैमित्तिक कर्मों से भी अरिष्ट की शान्ति की जाती है। प्रायश्चित्त कर्मों से कर्मोत्पन्न समस्याओं से बचा जा सकता है।

3.5.2.2. जप, दान आदि क्रियाओं द्वारा अरिष्ट शान्ति

जप, दान आदि क्रियाओं से समस्याओं को टाला जा सकता है अथवा समस्याओं के प्रभावों को कम किया जा सकता है । अनुष्ठान परम्परा में जप और दान का विशेष महत्व है । ज्योतिष के अनुसार समस्याओं के समाधान हेतु ग्रहों के मन्त्रों का जप एवं तत्तद् ग्रह संबन्धी दान किया जाता है । जप हेतु अलग-अलग प्रक्रियाओं का विधान किया जाता है जिसमें वैदिक मन्त्र, गायत्री मन्त्र, एकाक्षरी मन्त्र, तान्त्रिक मन्त्र एवं बीज मन्त्र आदि के जप महत्वपूर्ण हैं। ग्रहों की शान्ति हेतु निम्न मन्त्रों का जप, वस्तुओं का दान एवं मणियों को धारण किया जाता है। ग्रहों से संबन्धित जप, दान एवं मणियों का वर्णन आगे किया गया है।

3.5.2.2.1. सूर्य शान्त्यर्थ उपाय

वैदिक मन्त्र – ॐआकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च। हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्।

सूर्य गायत्री – आदित्याय विद्महे प्रभाकराय धीमहि तन्नो सूर्यः प्रचोदयात्।

एकाक्षरी मन्त्र – ॐ घृणि सूर्याय नमः।

तान्त्रिक मन्त्र – ॐ ह्रां ह्रीं ह्रौं सः सूर्याय नमः।

बीज मन्त्र – ॐ ह्रीं ह्रौं सूर्याय नमः।

जप संख्या – 7000

दान वस्तुएं – माणिक, सुवर्ण, ताम्र, गेहूं, गुड़, घी, केशर, मूंग, लाल गाय, लाल वस्त्र, लाल चन्दन।

रत्न – माणिक्य।

3.5.2.2.2. चन्द्र शान्त्यर्थ उपाय

वैदिक मन्त्र – ॐइमन्देवाऽअसपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशऽएष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्रह्मणानां राजा॥

चन्द्र गायत्री – ॐअमृताङ्गाय विद्महे कलरूपाय धीमहि तन्नो सोमः प्रचोदयात्॥

एकाक्षरी मन्त्र – ॐसों सोमाय नमः।

तान्त्रिक मन्त्र – ॐश्रां श्रीं श्रौं सः चन्द्रमसे नमः।

बीज मन्त्र – ॐऐं क्लीं सोमाय नमः।

जप संख्या – 11000

दान वस्तुएं – मोती, सुवर्ण, रजत, चावल, मिश्री, दही, श्वेतपुष्प, शंख, कर्पूर, श्वेत बैल, श्वेतवस्त्र, श्वेत चन्दन।

रत्न – मोती।

3.5.2.2.3. मंगल शान्त्यर्थ उपाय

वैदिक मन्त्र – ॐअग्निमूर्द्धादिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽयम्। अपां रेतां सि जिन्वति।

भौम गायत्री – ॐअङ्गारकाय विद्महे शक्तिहस्ताय धीमहि तन्नो भौमः प्रचोदयात्।

एकाक्षरी मन्त्र – ॐअं अंङ्गारकाय नमः।

तान्त्रिक मन्त्र – ॐक्रां क्रीं क्रौं सः भौमाय नमः।

बीज मन्त्र – ॐ हँ श्रीं भौमाय नमः।

जप संख्या – 10000

दान वस्तुएं – मूंगा, सुवर्ण, ताम्र, मसूर, गुड़, घी, रक्तकेशर, कस्तूरी, लाल बैल, रक्तवस्त्र, लाल चन्दन।

रत्न – मूंगा।

3.5.2.2.4. बुध शान्त्यर्थ उपाय

वैदिक मन्त्र – ॐउद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सं सृजेथामयं च अस्मिन्त्सधस्थेऽध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत।

बुध गायत्री – ॐसौम्यरूपाय विद्महे वाणेशाय धीमहि तन्नो सौम्यः प्रचोदयात्।

एकाक्षरी मन्त्र – ॐबुं बुधाय नमः ।।

तान्त्रिक मन्त्र – ॐब्रां ब्रीं ब्रौं सः बुधाय नमः।

बीज मन्त्र – ॐऐं श्रीं श्रीं बुधाय नमः।

जप संख्या – 9000

दान वस्तुएं – पन्ना, सुवर्ण, कांस्य, मूंग, खांड, घी, सर्वपुष्प, हाथीदांत, कर्पूर, शस्त्र, हरितवस्त्र, फल।

रत्न – पन्ना।

3.5.2.2.5. गुरु शान्त्यर्थ उपाय

वैदिक मन्त्र – ॐबृहस्पतेऽतियदर्योऽअर्हाद्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु यद्दीदयच्छवसऽऋतप्रजातदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्।

गुरु गायत्री – ॐआङ्गिरसाय विद्महे दिव्यदेहाय धीमहि तन्नो जीवः प्रचोदयात्।

एकाक्षरी मन्त्र – ॐबृं बृहस्पतये नमः।

तान्त्रिक मन्त्र – ॐग्रां ग्रीं ग्रौं सः गुरवे नमः।

बीज मन्त्र – ॐह्रीं क्लीं हूँ बृहस्पतये नमः।

जप संख्या – 19000

दान वस्तुऐं – पुखराज, सुवर्ण, कांस्य, चना दाल, खांड, घी, पीतपुष्प, हल्दी, पुस्तक, घोड़ा, पीतवस्त्र, पीतफल।

रत्न – पुखराज।

3.5.2.2.6. शुक्र शान्त्यर्थ उपाय

वैदिक मन्त्र – ॐअन्नात् परिश्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत्क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु।

शुक्र गायत्री – ॐभृगुजाय विद्महे दिव्यदेहाय धीमहि तन्नो शुक्रः प्रचोदयात्।

एकाक्षरी मन्त्र – ॐशुं शुक्राय नमः।

तान्त्रिक मन्त्र – ॐद्रां द्रीं द्रौं सः शुक्राय शुक्राय नमः।

बीज मन्त्र – ॐह्रीं श्रीं शुक्राय नमः।

जप संख्या – 16000

दान वस्तुऐं – हीरा, सुवर्ण, रजत, चावल, मिश्री, दूध, श्वेतपुष्प, सुगन्ध, दधि, श्वेत घोड़ा, श्वेतवस्त्र, श्वेत चन्दन।

रत्न – हीरा।

3.5.2.2.7. शनि शान्त्यर्थ उपाय

वैदिक मन्त्र – ॐशन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः।

शनि गायत्री – ॐभगभवाय विद्महे मृत्युपुरुषाय धीमहि तन्नो शनिः प्रचोदयात्।

एकाक्षरी मन्त्र – ॐशं शनैश्चराय नमः।

तान्त्रिक मन्त्र – ॐप्रां प्रीं प्रौं सः शनये नमः।

बीज मन्त्र – ॐऐं ह्रीं श्रीं शनये नमः।

जप संख्या – 23000

दान वस्तुऐं – नीलम, सुवर्ण, लोहा, उड़द, कुलथी, तेल, कृष्णपुष्प, कस्तूरी, कृष्णान्न, भैंस, कृष्णवस्त्र, शस्त्र।

रत्न – नीलम।

3.5.2.2.8. राहू शान्त्यर्थ उपाय

वैदिक मन्त्र – ॐकयानश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता।

राहू गायत्री – ॐशिरोरूपाय विद्महे अमृतेशाय धीमहि तन्नो राहुः प्रचोदयात्।

एकाक्षरी मन्त्र – ॐरां राहवे नमः।

तान्त्रिक मन्त्र – ॐभ्रां भ्रीं भ्रौं सः राहवे नमः।

बीज मन्त्र – ॐऐं ह्रीं राहवे नमः ।

जप संख्या – 18000

दान वस्तुऐं – गोमेद, सुवर्ण, सीसा, तिल, सरसों, तेल, कृष्णपुष्प, खड्ग, कम्बल, घोड़ा, नीलावस्त्र, शस्त्र ।

रत्न – गोमेद ।

3.5.2.2.9. केतु शान्त्यर्थ उपाय

वैदिक मन्त्र – ॐकेतुं कृणवन्न केतवे पेशो पर्य्या अपेशसे समुषद्भिरजायथाः ।।

केतु गायत्री – ॐपद्मपुत्राय विद्महे अमृतेशाय धीमहि तन्नो केतुः प्रचोदयात् ।

एकाक्षरी मन्त्र – ॐकें केतवे नमः ।

तान्त्रिक मन्त्र – ॐस्रां स्रीं स्रौं सः केतवे नमः ।

बीज मन्त्र – ॐह्रीं ऐं केतवे नमः ।

जप संख्या - 18000

दान वस्तुऐं - लहसुनिया, सुवर्ण, लोहा, तिल, सप्तधान्य, तेल, धूम्रपुष्प, नारियल, कम्बल, काला बकरा, धूम्रवस्त्र, शस्त्र ।

रत्न – लहसुनिया ।

अभ्यास प्रश्न

15. घटनाओं का पूर्वानुमान कैसे होता है ?
16. समस्याओं का समाधान किस तरह से किया जाता है ?
17. ग्रहों के रत्नों के नाम लिखिए ?
18. सूर्य का वैदिक मन्त्र लिखिए ?

19. चन्द्र का वैदिक मन्त्र लिखिए ?
20. मंगल का वैदिक मन्त्र लिखिए ?
21. बुध का वैदिक मन्त्र लिखिए ?
22. गुरु का वैदिक मन्त्र लिखिए ?
23. शुक्र का वैदिक मन्त्र लिखिए ?
24. शनि का वैदिक मन्त्र लिखिए ?
25. राहू का वैदिक मन्त्र लिखिए ?
26. केतु का वैदिक मन्त्र लिखिए ?

3.6. सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने मानव जीवन की समस्याओं का अध्ययन किया। समस्याओं को मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त किया गया है – प्राकृतिक एवं मानवीय समस्याऐं। प्रकृति से संबन्धित समस्याओं को प्राकृतिक समस्या कहा जाता है। मानव जाति की समस्याऐं मानवीय समस्याऐं हैं। पुनः प्राकृतिक समस्याओं के तीन भेद कहे गए हैं – भौम, आन्तरिक्ष एवं दिव्य। भूमि से उत्पन्न समस्याओं को भौम, अन्तरिक्ष से सम्बन्धित समस्याऐं आन्तरिक्ष एवं दैवीय आपदाओं को दिव्य कहा गया है। मानवीय समस्याओं को भी तीन भागों में विभाजित किया गया है – आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक । दैहिक समस्याऐं जैसे शारीरिक एवं मानसिक विकृतियां आध्यात्मिक समस्याऐं कहलाती हैं। बाहरी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि से उत्पन्न समस्याऐं आधिभौतिक समस्याऐं हैं। दैवीय समस्याओं से जब मनुष्य प्रभावित होता है तब वह आधिदैविक समस्याऐं कहलाती हैं।

उपर्युक्त समस्त समस्याओं के समाधान हेतु ज्योतिष का प्रयोग भारतीय समाज में वैदिक काल से ही होता आ रहा है। जप, तप, दान, रत्नधारण आदि से ग्रहों की शान्ति द्वारा इन समस्याओं को टाला जा सकता है।

3.7. शब्दावली

क्रियाशील - सक्रियता

निरन्तर -	लगातार
भिन्नता -	भेद
अतुलित -	जिसकी तुलना न की जा सके
प्रतिभा -	विशिष्ट बुद्धि
परिकल्पना -	अनुमान लगाना, पूर्व अवधारणा बनाना
अनादि -	जिसका आरम्भ न हो
सान्त -	अन्त के सहित
सादि -	आदि के सहित अथवा जिसका प्रारम्भ हो
अनन्त -	जिसका अन्त न हो सके
गणितीय -	गणित से सम्बन्धित
प्रधानता -	मुख्य विषय
निराकरण -	उपाय
ज्योतिषशास्त्रीय -	ज्योतिष शास्त्र से सम्बन्धित
बाधा -	समस्या
पूर्वानुमान -	घटना से पहले ही अनुमान लगाना
शुभाशुभ -	शुभ और अशुभ
पद्धति -	प्रक्रिया, मार्ग अथवा रीति
तत्पर -	सचेत रहना
प्राकृतिक -	प्रकृति से सम्बन्धित
मानवीय -	मानवों से सम्बन्धित
प्राणीवर्ग -	प्राणियों का समूह
सामुदायिक -	समुदाय से सम्बन्धित
व्यक्तिगत -	एकल
विकृति -	विकार होना
स्वाभाविक -	प्राकृतिक स्वभाव से सम्बन्धित
विपरीत -	उल्टा
गुरुतर -	अधिक प्रभावशाली

अप्रसन्न -		प्रसन्न न होना अथवा दुःख
अविनय -		पापकर्म
उपद्रव	-	उत्पात
समष्टिगत	-	सामूहिक
एकदेशिक	-	स्थानीय
चलायमान वस्तु-		गतिशील वस्तु
विकार	-	विकृति
नाभस	-	आकाशीय
पांशुवृष्टि	-	धूल की वर्षा
रक्तवृष्टि	-	लाल वर्षा
द्युलोक	-	आकाशलोक
लक्ष	-	एक लाख
अरिष्ट	-	समस्याऐं
गोदान	-	गाय का दान
धर्माचरण	-	धर्म का आचरण
उत्पात जनित	-	उत्पातों से उत्पन्न
अव्यावर्त	-	नष्ट नहीं होने वाला
समुदाय	-	समूह
विभक्त	-	बांटना
अतिवृष्टि	-	अधिक वर्षा होना
अनावृष्टि-		कम वर्षा होना
अकाल	-	वर्षा न होना
शारीरिक-		शरीर से सम्बन्धित
मानसिक-		मन से सम्बन्धित
अतिसार-		पेचिस
वियोग	-	विछुड़ना
संयोग	-	मिलन

दैहिक	-	शरीर से सम्बन्धित
देहजन्य	-	शरीर से उत्पन्न
बुभुक्षा	-	भूख
तितिक्षा	-	प्यास
सन्ताप	-	दुःख
सर्पदंश	-	सांप का काटना
अनायास	-	अचानक
महामारी	-	बीमारी फैलना
आन्तरिक्ष	-	अन्तरिक्ष से सम्बन्धित
दिव्य	-	दैवीय
अधिकायत	-	अधिकांशतः
परम्परागत	-	परम्परा से सम्बन्धित
आकर्षित	-	अपनी ओर खीचना
सर्वप्रथम-		सबसे पहले
निराकरण	-	निदान
गणितीय-		गणित से सम्बन्धित
आकाशीय	-	आकाश से सम्बन्धित
सचेत	-	सावधान रहना
वाङ्मय	-	साहित्य
शास्त्रीय ग्रन्थ	-	शास्त्रों से सम्बन्धित ग्रन्थ
नैमित्तिक कर्म	-	किसी कार्य के निमित्त कर्म
प्रायश्चित्त-		पश्चाताप हेतु किया गया कर्म
कर्मोत्पन्न	-	कर्मों से उत्पन्न
शान्त्यर्थ	-	शान्ति के लिए

3.8. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. निरन्तर प्रगति के पथ पर मानव को जो बाधाऐं उत्पन्न होती हैं, वह समस्याऐं कहलाती हैं।

2. समस्याओं को प्राकृतिक समस्याऐं एवं मानवीय समस्याऐं इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।
3. प्रकृति से उत्पन्न समस्याऐं प्राकृतिक समस्याऐं कहलाती हैं। ये समस्याओं का प्रकृति पर अधिक प्रभाव होता है।
4. जिन समस्याओं का मानवो पर अधिक प्रभाव पड़ता है वह मानवीय समस्याऐं कहलाती है।
5. दिव्य उत्पात जब मनुष्यों को प्रभावित करते हैं तब उन्हें आधिदैविक समस्याऐं कहते हैं।
6. भूमि से संबन्धित उत्पात भौम उत्पात अथवा भौम समस्याऐं कहलाती हैं।
7. मनुष्यों के पापकर्म से रूष्ट होकर देवतागण उत्पात उत्पन्न करते हैं।
8. अन्तरिक्ष में उत्पन्न उत्पातों जैसे उल्कापात, वायु, मेघ, सन्ध्या, दिग्दाह, सूर्य-चन्द्र के परिवेष, गन्धर्वनगर, वर्षा के विकार, इन्द्रधनुष आदि से संबन्धित नकारात्मक परिवर्तनों को को आन्तरिक्ष उत्पात कहा जाता है।
9. दैहिक समस्याओं को आध्यात्मिक समस्या कहा गया है। यह दो प्रकार की है – शारीरिक एवं मानसिक। रोग आदि समस्याऐं शारीरिक तथा प्रिय के वियोग से एवं अप्रिय के संयोग से उत्पन्न मानसिक वृत्तियां मानसिक समस्या होती है।
10. बाहरी कारणों जैसे पशु, पक्षी आदि अन्य जीवों से उत्पन्न समस्याओं को आधिभौतिक समस्या कहते हैं।
11. सावित्री का लक्ष हवन एवं देवकार्य, ब्राह्मणों को दान, गुरु पूजन, गुरु को भूमिदान, गौदान, आभूषणदान करने, धर्माचरण से भौम अरिष्ट नष्ट हो जाते हैं। भौम-उत्पात के अनन्तर सात रात्रि के भीतर यदि जलवृष्टि हो तो भौम-अरिष्ट नष्ट हो जाते हैं।
12. व्रत, हवन, उपवास, दान तथा मांगलिक कार्यों से अन्तरिक्ष अरिष्ट नष्ट हो जाते हैं।
13. मनीषियों ने दिव्य अरिष्ट नष्ट नहीं होने वाले अरिष्ट हैं, परन्तु अत्यधिक अन्नदक्षिणादान, महाहोम, यज्ञादि, सुवर्णदान और शिवमन्दिर में गोदुग्ध दोहन से दिव्य अरिष्ट सम्भवतः शान्त हो जाते हैं।
14. अव्यावर्त अर्थात् कभी नष्ट नहीं होने वाला।
15. ज्योतिषीय गणनाओं से ग्रहों की गति एवं स्थिति का अध्ययन करके घटनाओं का पूर्वानुमान किया जाता है।

16. वैदिक अनुष्ठानों, मणि-मन्त्र-औषधि के प्रयोग से, जप, तप, दान आदि क्रियाओं द्वारा समस्याओं का समाधान किया जाता है।
17. सूर्य-माणिक्य, चन्द्र-मोती, मंगल-मूंगा, बुध-पन्ना, गुरु-पुखराज, शुक्र-हीरा, शनि-नीलम, राहू-गोमेद, केतु-लहसुनियां।
18. ॐआकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च। हिरण्ययेनसविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्।
19. ॐइमन्देवाऽअसपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुख्यै पुत्रमस्यै विशऽएष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्रह्मणानां राजा॥
20. ॐअग्निमूर्द्धादिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽयम्। अपां रेतां सि जिन्वति।
21. ॐउद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सं सृजेथामयं च अस्मिन्त्सधस्थेऽध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत।
22. ॐबृहस्पतेऽतियदर्योऽअर्हाद्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु यद्दीदयच्छवसऽऋतप्रजातदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्।
23. ॐअन्नात् परिश्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत्क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु।
24. ॐशन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः।
25. ॐकयानश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता।
26. ॐकेतुं कृणवन्न केतवे पेशो पर्य्या अपेशसे समुषद्भिरजायथाः।

3.9. सन्दर्भग्रन्थ/सहायकसामग्री सूची

1. अद्भुतसागर, श्रीमद्वल्लालसेनदेवप्रणीत, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन,वाराणसी,2006
2. बृहत्संहिता, वराहमिहिर विरचित, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 2009
3. सांख्यकारिका, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी सन् 2001
4. ग्रहरोगनिदान-चिकित्साचन्द्रप्रकाश, मोतीलाल बनारसीदास, 2010
5. वेदाङ्गज्योतिषम्, आचार्य लगध, चौखम्बा संस्कृत प्रकाशन, वाराणसी
6. ज्योतिष में रोगविचार, प्रो.शुकदेव चतुर्वेदी, मोतीलाल बनारसीदास, 1984

7. नैसर्गिक पञ्चाङ्ग, नैसर्गिक शोध संस्थान, नई दिल्ली इकाई, कटवारिया सराय दिल्ली-16

3.10. निबन्धात्मक प्रश्न

1. समस्या किसे कहते है, समस्या को कितने भागों में विभाजित किया गया है ? विस्तार से समझाइये।
2. उत्पात क्या है ? विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. मानवीय समस्याओं को विस्तार से समझाइये ?
4. समस्याओं के समाधान में ज्योतिष किस प्रकार उपयोगी है ? प्रतिपादित कीजिए
5. ग्रहों की शान्ति के उपायों की चर्चा कीजिए।
6. ज्योतिष के अनुसार समस्याओं के समाधान का संक्षिप्त विवेचन कीजए।
7. जप हेतु मन्त्रों के प्रयोग का विवेचन कीजिए।
8. नवग्रहों के बीज मन्त्रों को लिखिए।

इकाई – 4 रोग निदान में ज्योतिष की भूमिका

पाठ संरचना

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 राशि, भाव एवं ग्रहों से रोग विचार

4.3.1 मेषादि राशियों के स्वभाववश उत्पन्न होने वाले रोग

अभ्यास प्रश्न

4.3.2 ग्रहों से रोग विचार

4.3.2.1 सूर्य से विचारणीय रोग

4.3.2.2 चन्द्र से उत्पन्न होने वाले रोग

4.3.2.3 मंगल से रोग विचार

4.3.2.4 बुध से उत्पन्न होने वाले रोग

4.3.2.5 गुरु ग्रहोत्पन्न रोग

4.3.2.6 शुक्र से उत्पन्न होने वाले रोग

4.3.2.7 शनि ग्रह से उत्पन्न रोग

4.3.2.8 राहुजन्य रोग

4.3.2.9 केतुजन्य रोग

अभ्यास प्रश्न

4.3.3 द्वादशभावों में रोग विचारणीय प्रमुख भाव

4.3.3.1 षष्ठ, अष्टम एवं व्यय स्थान से रोग विचार

4.3.3.2 राशि एवं भावों के परस्पर सम्बन्ध से रोगोत्पत्ति विचार

अभ्यास प्रश्न

4.4 जन्मजात एवं आगन्तुक रोग विचार

4.4.1 जन्मजात रोग

4.4.2 आगन्तुक रोग

4.2.2.1 दृष्टिनिमित्तजन्य रोग

4.2.2.2 अदृष्टिनिमित्तजन्य रोग

अभ्यास प्रश्न

4.5 रोगनिवृत्ति के उपाय

4.5.1 ग्रहचिकित्सा हेतु रत्नधारणादिविचार

4.5.2 रोगनिवृत्यर्थ मन्त्रजपानुष्ठान

4.5.2.1 ग्रहों के जपनीय वैदिक मन्त्र

4.5.2.2 ग्रहों के जपनीय तान्त्रिक मन्त्र

4.5.2.3 ग्रहों के मन्त्रानुष्ठान में जपादि संख्या

4.5.2.4 रोगनिवृत्यर्थ के अन्य उपाय

अभ्यास प्रश्न

4.6 सारांश

4.7 शब्दावली

4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.9 सन्दर्भ/सहायक ग्रन्थ सूची

4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना –

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई–505 के चतुर्थ इकाई से सम्बन्धित है। **'ज्योतिषां ग्रहनक्षत्राणां शुभाशुभानां फलबोधकशास्त्रमिति ज्योतिषम्।'** ग्रह नक्षत्रों के आधार पर मानव जीवन में घटित होने वाले शुभ व अशुभ घटनाओं का फलकथन ज्योतिषशास्त्र में किया जाता है। मानव जीवन में शुभत्व वृद्धि एवं अशुभफल को कम करने में ही भारतीय मनीषियों का चिन्तन रहा है। ऋषि मुनियों ने कठोर तप व साधना के बल पर मानव जीवन में घटित होने वाले अरिष्ट निवारण हेतु अनुभव आधारित तथ्यों को भी मानव कल्याण हेतु उपयोगी बनाया है। उनका चिन्तन सदैव सर्व जनहिताय सर्व जन सुखाय की उक्ति को ही सिद्ध करने में लगा रहा है। शुभाशुभत्व के ज्ञान हेतु मानव शरीर को उन्होंने ग्रहों के प्रभाव से युक्त माना। इसलिए वैदिक दर्शन में **यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे** का चिन्तन प्राप्त होता है।सौर मण्डल में स्थित ग्रह नक्षत्र व अन्य आकाशीय पिण्ड मानव शरीर को प्रभावित करते है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में एक सुनिश्चित नियम के तहत ग्रह गतिशील हैं या अन्य आकाशीय घटनाएं घटित होती हैं, वैसे ही मानव शरीर पर ग्रहों का प्रभाव भी नियमों से आबद्ध है। ज्योतिषशास्त्र में सूर्यादि ग्रहों का प्रामुख्य है, उनकी प्रकृति को समझ कर हमारे ऋषि– मुनियों एवं आचार्यों मानव के साथ उनके तादात्म्य के नियम को स्थापित किया।

सौरमण्डल में स्थित सूर्य जिस प्रकार अन्य ग्रहों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार वह मानव शरीर में भी तेजरूप में विद्यमान है। अतः सूर्य को आत्मा भी कहा जाता है। वेद भी कहता है – **सूर्य आत्मा जगतः**। इस कारण यह आत्मतत्त्व जीवित प्राणी को उसके अस्तित्व का भान कराता है। अन्तरिक्ष में संचरण करते हुए ग्रहों का प्रभाव पृथिवी पर निवास करने वाले प्राणियों पर विभिन्न भौगोलिक स्थितियों के कारण भिन्न भिन्न पडता है, जिस कारण परिणाम में भी विभिन्नता परिलक्षित होती है। अतः एक ही पृथिवी पर निवास करने वाले प्राणियों की शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक क्षमताएं भी भिन्न भिन्न होती है। अतः देश, काल व परिस्थिति के अनुसार मानव के शरीर की गुणधर्मिता को समझते हुए उस पर पडने वाले ग्रहों के प्रभावों का विश्लेषण ज्योतिषशास्त्र करता है। मानव के जीवन में घटित होने वाली घटनाओं सुख–दुःख, उन्नति–अवनति, लाभ–हानि, रोग–शोक आदि में पूर्वजन्म–जन्मान्तरों के कर्मों का भी अवश्यमेव प्रभाव होता है, क्योंकि अवश्यमेव भोक्तव्यं

कृतं कर्म शुभाशुभम्। ज्योतिषशास्त्र शुभाशुभ कर्मों के परिपाक का अध्ययन कर मनुष्य को सचेत करता है। जैसे कि आचार्य वराहमिहिर ने कहा है –

यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः पंक्तिम्।
व्यंजयति शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव।। लघुजातक 1/2

मानव के अशुभ कर्मों के आधार पर होने वाले आकस्मिक दुर्घटनाओं, शारीरिक दुर्बलता एवं रोगों का विश्लेषण ज्योतिषशास्त्र करता है। क्योंकि – जन्मान्तरकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते। केवल आहार –विहार की अनियमितता ही रोगोत्पत्ति का कारण नहीं अपितु पूर्वार्जित कर्म भी साध्यासाध्य रोगों की उत्पत्ति के कारण हैं –

कर्मप्रकारेण कदाचिदेके दोषप्रकोपेण भवन्ति चान्ये।
तथापरे प्राणिषु कर्मदोषप्रकोपजाः कायमनोविकाराः।।

इस प्रकार कर्म सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए जन्मलग्नकुण्डली, दशा, गोचर प्रश्नलग्नकुण्डली के आधार पर रोगोत्पत्ति के कारण, लक्षण व निवारण का विश्लेषण करके मानव के दुःखविघातक व पुरुषार्थ साधक बनने में ज्योतिषशास्त्र महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। प्रस्तुत पाठ में नवग्रहों की प्रकृति व गुणधर्मिता के आधार पर प्राणियों में उत्पन्न होने वाले रोगों का विश्लेषण हेतु विभिन्न योगादिकों के बारे में आप अध्ययन करेंगे। साथ ही रोगनिदान में ज्योतिष की भूमिका में राशि, भाव व ग्रहों से रोगविचार पूर्वक रोगनिवृत्ति के ज्योतिषीय उपायों का अध्ययन करेंगे।

4.2 उद्देश्य –

इस पाठ के अध्ययन से आप –

- ग्रहों के योग से रोगोत्पत्ति के कारण को समझने में सक्षम होगें।
- ज्योतिष में वर्णित विविध रोगों के नाम व लक्षण जानेंगे।
- प्रत्येक ग्रह से सम्बन्धित रोगों के नाम एवं लक्षण जानने में सक्षम होंगें।
- ग्रह–भाव एवं राशि द्वारा रोगोत्पत्ति के कारणों को स्पष्ट कर पाएंगे।
- कुण्डली के माध्यम से रोगफलकथन में सक्षम होंगे।
- जन्मजात एवं आगन्तुक रोगों का ज्योतिषीय दृष्टिकोण से अन्तर कर पाने में सक्षम

होंगे।

- रोगनिदान में ज्योतीषीय सुझावों का प्रयोग करने में समर्थ होंगे।

4.3 राशि, भाव एवं ग्रहों से रोग विचार

ज्योतिषशास्त्र कालविधान शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठा को प्राप्त किए हुए है। काल के अन्तर्गत ही समस्त चराचर घटनाओं का समावेश होता है। काल ही सबका सृजन एवं समस्त जगत् का संहार करता है। **'कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः'** अर्थात् काल ही समष्टि एवं व्यष्टि रूप से होने वाली घटनाओं का कारक है। ज्योतिषशास्त्र में समष्टि एवं व्यष्टि रूप से कालान्तर्गत होने वाली घटनाओं का वर्णन मिलता है। कालगणना का यह शास्त्र जातक के शुभाशुभ काल का ज्ञान सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से करता है। जातक के जीवन में घटने वाली समस्त घटनाओं का ज्ञान पूर्व में ही ज्योतिषशास्त्रा के अध्ययन से जाना जा सकता है। हानि– लाभ, सुख–दुःख, दुर्घटना, आय–व्यय या शारीरिक सौख्य अथवा कष्ट या रोग, समस्त विषयों का विशद वर्णन ज्योतिष शास्त्र करता है। कुण्डली में स्थित 12 भावों से जातक के जीवन में शुभाशुभ का निर्णय, एक दीर्घकालिक साधना का प्रतिफल है। लग्न भाव से शरीर का विचार, षष्ठ से रोग एवं अष्टम से मृत्यु या आयु आदि का विचार किया जाता है। मानव शरीर में तीन प्रकार की प्रकृतियों सत्त्व, रज एवं तम और ग्रहों के साथ इनका समन्वय रोगोत्पत्ति व लक्षणादि को समझने का एक साधन है। जिन ग्रहों में सत्व गुण अधिक रहता है, उनकी अमृतमयी किरणें, जिनमें रजोगुण की प्रधानता रहती है उनकी मिश्रित किरणें व तमोगुणाधिक ग्रहों के विषमयी किरणों के आधार पर ही शुभाशुभत्व का विचार किया जाता है। रश्मि विश्लेषण के आधार पर ही ग्रहों के स्थान, दिक्, काल एवं चेष्टा बल का अध्ययन कर रोगोत्पत्ति व निदान में ग्रहों की भूमिका विश्लेषित की जाती है। कालपुरूष में मेषादि राशियों की स्थापना कर तत्तद् अंगों में होने वाले विकार, रोग एवं उनके निदान का प्रतिपादन ज्योतिषशास्त्र में किया गया है। क्रान्तिवृत (360अंश) का 12वां भाग (30अंश) राशि कहा गया है। कुण्डली में स्थित 12 भाव शरीरांगों के कारकस्थान कहे गए है। जैसे प्रथम भाव से शरीर वर्णादि का विचार वरामिहिर द्वारा किया गया है–

शरीरवर्णचिह्नायुर्वयोमानं सुखासुखम्।

ज्ञातीशीलं च मतिमाल्लँग्नात्सर्वं विचिन्त्येत्।।

अर्थात् शरीर का रंग, चिह्न, आयु, सुख, दुःख, जाति, शील आदि का विचार लग्न से करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य भावों से भी अनेक विषय जानने चाहिए।

4.3.1 मेषादि राशियों के स्वभाववशात् उत्पन्न होने वाले रोग –

1. **मेष** – नेत्ररोग, मुखरोग, सिरदर्द, मानसिक तनाव, उन्माद एवं निद्रा।
2. **वृष** – गले एवं श्वासनली के रोग, आँख, कान एवं गले के रोग।
3. **मिथुन** – रक्तविकार, श्वास, फेफडे व मज्जारोग।
4. **कर्क** – हृदय रोग एवं रक्त विकार।
5. **सिंह** – उदररोग मेद वृद्धि एवं वायुविकार।
6. **कन्या**– जिगर, तिल्ली, आमाशयविकार, अपचन, मन्दाग्नि, कमर का दर्द।
7. **तुला** – मूत्राशय के रोग, मधुमेह, प्रदर, मूत्रकृच्छ एवं बहुमूत्र।
8. **वृश्चिक** – गुप्तरोग, अर्श, भगंदर, उपदंश, शूक एवं संसर्गजन्य रोग।
9. **धनु** – यकृत दोष, ऋतुविकार, अस्थिभंग, मज्जारोग एवं रक्त दोष।
10. **मकर** – वातरोग, शीतरोग, चर्मरोग एवं रक्तचाप।
11. **कुम्भ** – जलोदर, मानसिक रोग, ऐंठन एवं गर्मी।
12. **मीन** – एलर्जी, चर्मरोग, रक्तविकार, आमवात, गन्थि एवं गठिया रोग।

4.3.2 ग्रहों से रोग विचार –

भारतीय ज्योतिष में नौ ग्रहों का मुख्य रुप से विचार किया गया है। ये ग्रह मनुष्य के कर्मपाक को संसूचित करते हैं। इन ग्रहों के द्वारा मानव जीवन व शरीर पर पडने वाले प्रभाव का वर्णन ज्योतिष शास्त्र में मिलता है। नौ ग्रहों द्वारा उत्पन्न होने वाले रोगों का विचार मुख्य रूप से यहां किया गया है–

4.3.2.1 – सूर्य से विचारणीय रोग –

सूर्य नवग्रहों में प्रमुख ग्रह माना गया है। सूर्य को ही विश्व की आत्मा भी कहा गया है। सूर्य से पित्तविकार, उष्ण ज्वर, शरीर में जलन, अपस्मार (मिर्गी), हृदय रोग, नेत्र रोग, नाभि से नीचे कोख में पीडा, चर्म रोग, अस्थिसुति, विष पीडा, अग्निरोग, ज्वरवृद्धि,

क्षय, अतिसार, चित्त व्याकुलता, शस्त्र एवं काष्ठ से व्रण एवं शिर में पीडा आदि रोग उत्पन्न होते हैं। जैसा कि फलदीपिका में कहा गया है–

पितोष्णज्वरतापदेहतपनापस्मारहृत्क्रोडज–।

व्याधीन्वक्ति रविर्दृगार्त्यरिभयं त्वग्दोषमस्थिस्रुतिम्।। –फलदीपिका 14/02

जातकपारिजात में भी सूर्य से उत्पन्न होने वाले रोग के विषय में कहा गया है कि –

सदाग्निरोगज्वरवृद्धिदीपनक्षयातिसारादिकरोगसंकुलम्।।

4.3.2.2 – चन्द्र से उत्पन्न होने वाले रोग –

चन्द्रमा को मन का कारक कहा गया है। मन का चंचल होना ही बन्धन एवं मोक्ष का कारण कहा गया है। ज्योतिषीय परिगणना के आधार पर चन्द्रमा की शुभाशुभ स्थिति से व्यक्ति के मन मस्तिक की स्थिरता या अस्थिरता एवं स्वस्थता या अस्वस्थता का विचार किया जाता है। फल दीपिका में चन्द्र से सम्भावित रोगों के विषय में कहा गया है कि –

निद्रालस्यकफातिसारपिटकाः शीतज्वरं चन्द्रमाः।

शृंग्यब्जाहतिमग्निमान्द्यमरूचिं योषिद्व्यथाकामिलाः।।

चेतःशान्तिमसृग्विकारमुदकाद्भीतिं च बालग्रहाद्

दुर्गाकिन्नरधर्मदेवफणभृद्यक्ष्याश्च भीतिं वदेत्। – फलदीपिका 14/03

अर्थात् चन्द्रमा से निद्रारोग (निद्रा न आना या अधिक आना। सोते–सोते चलना जिसे निद्राटन या सन्यास रोग कहते है) आलस्य, कपफ, अतिसार, पिटक, शीतज्वर, मन्दाग्नि, अरूचि, पीलिया, रक्तविकार, चित्त की थकावट या व्याकुलता, पाण्डु, जलोदर, कामिला, पीनस, स्त्रीजन्यरोग, प्रमेह, वाताधिक्य, मानसिक रोग आदि उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहती है।

4.3.2.3 – मंगल से रोग विचार –

मंगल से उत्पन्न होने वाले रोगों में तृष्णा, वायुक्षोभ से पित्त प्रकोप, पित्त ज्वर, जलन, विषमय रक्तकुष्ठ, नेत्र रोग, गुल्म (एपिन्डिसाइटीज), अपस्मार, मज्जारोग, खुजली,

चमडी में खुर्दरापन, शरीर का कोई भी अंग या हड्डी का टूटना, बृहद्बीज, कफज ग्रन्थि रोग, व्रण, रक्त विकार इत्यादि रोग हैं–

तृष्णासृक्कोपपित्तज्वरमनलविषास्त्रार्तिकुष्ठाक्षिरोगान्

गुल्मापस्मारमज्जाविहतिपरुषतापामिकादेहभंगान्।।– फलदीपिका 14/4

4.3.2.4 – बुध से उत्पन्न होने वाले रोग –

बुध ग्रह भ्रान्ति, बौद्धिक असंतुलन, नेत्ररोग, गले के रोग, नासिका रोग, त्रिदोषज्वर, विषोत्पन्न रोग, चर्मरोग, पीलिया, खुजली, वायु–विकार, कुष्ठ, मन्दाग्नि, संग्रहणी, वाणी सम्बन्धि रोग आदि के उत्पत्ति का कारक होता है–

भ्रान्तिं दुर्वचनं दृगामयगलघ्राणोत्थरोगं ज्वरं,

पित्तं श्लेष्मसमीरजं विषमपि त्वग्दोष पाण्ड्वामयान्।

दुःस्वप्नं च विचर्चिकाग्निपतने पारुष्यबन्धश्रमान्।। –फलदीपिका 14/05

4.3.2.5 – गुरु ग्रहोत्पन्न रोग –

जन्म कुण्डली में गुरु ग्रह के अशुभ या रोगेश होने के कारण गुल्म (एपिन्डिसाइटीज), आन्त्रज्वर, (टाइपफाइड), मूर्च्छा, कर्णरोग, कफजरोग, ज्वर, वमन, आन्त्ररोग (हार्निया), शोफ रोग एवं स्थौल (चर्बी बढना) जैसे रोगों के लक्षण मानव शरीर में प्रायः देखे जाते है। यथा –

गुल्मान्त्रज्वरशोकमोहकफजान् श्रोत्रार्तिमोहामयान्। फ0 दी0 14/06

जातकपारिजात में भी कहा गया है –

आचार्यदेवगुरुभूसुरशापदोषैः शोकं च गुल्मरुजमिन्द्रगुरुः करोति। जा. पा. 2/68

4.3.2.6 – शुक्र से उत्पन्न होने वाले रोग–

जन्म कुण्डली में शुक्र यदि रोग कारक ग्रह हो तो पाण्डु, कफ एवं वायु विकार से नेत्र रोग, मूत्ररोग, प्रमेह, वीर्य की कमी, अति सम्भोग के कारण दौर्बल्य, श्वास एवं क्षय, शोष (शरीर सूखना), स्त्री जन्यरोग, मधुमेह, वात एवं श्लेषमा विकार, शीघ्रपतन, स्वप्न रोग

एवं धातुक्षय आदि रोगों की उत्पत्ति होती है। जैसे फलदीपिका में कहा गया है –

पाण्डुश्लेषमरुत्प्रकोपनयनव्यापत्प्रमेहामयान्
गुह्यस्यामयमूत्रकृच्छ्रमदनव्यापत्तिशुक्लस्रुतिम्।।
वारस्त्रीकृतदेहकान्तिविहतिं शोषामयं योगिनी–
यक्षीमातृगणाद्भयं प्रियसुहृद्भंगं सितः सूचयेत्।। फ0 दी0 14/07

4.3.2.7 – शनि ग्रह से उत्पन्न रोग–

रोगकारक ग्रह शनि होने के कारण मानव शरीर में वात एवं कफजन्य रोग, टांग दर्द या लंगडाना, मानसिक थकान, भ्रान्ति, (बौद्धिक रोग) कुक्षि में गांठ, शरीर में अध्कि उष्णता, हृदयताप, सन्धि रोग (गठिया, हार्निया), गुप्तेन्द्रिय में पीडा, पार्श्व तथा शरीर में पीडा, पक्षाघात, पोलियो, फालिस, स्नायुदौर्बल्य, कैंसर एवं वातशूल जैसे रोगों की उत्पत्ति का कारक बनता है।

वातश्लेष्म विकारपादविहतिं चापत्तितन्द्राश्रमान्,
भ्रान्तिं कुक्षिरुगन्तरुष्णभृतकध्वंसं च पार्श्वाहतिम्।
भार्यापुत्रविपत्तिमंगविहतिं हृत्तापमर्कात्मजो। – फ. दी. 14/08

4.3.2.8 – राहुजन्य रोग –

राहु को ज्योतिषशास्त्र में छायाग्रह कहा गया है। राहु विशेषतः चोट, विषाणु जन्य रोगों की उत्पत्ति, चोट, कुष्ठ, हृदय ताप, अपस्मार जैसे रोगों की उत्पत्ति का कारण बनता है। साथ ही मसूरिका गण्डमाला, कृमिरोग, अरुचि एवं उद्बन्धन जैसे रोगों का कारण भी राहु कहा गया है–

स्वर्भानुहृदिं तापकुष्ठविमतिव्याधिं विषं कृत्रिमं
पादातिं च पिशाचपन्नगभयं भार्यातनूजापदम्।। – फलदीपिका 14/09

जातकपारिजात में भी कहा गया है–

करोत्यपस्मारमसूरिरज्जुक्षुद्दृक्कृमिप्रेतपिशाचभूतैः।
उद्बन्धनेरूचिकुष्ठरोगैर्विधुन्तुदश्चाति भयं नराणाम्।। जा. पा. 2/81

4.3.2.9 – केतुजन्य रोग –

केतु ग्रह से प्रायः मानव शरीर में श्वेतकुष्ठ, गर्भस्राव, चर्मरोग, कण्डूरोग, मसूरिका, जलोदर एवं विषरोग की उत्पत्ति करता है।

कण्डूमसूरिरिपुकृत्रिमकर्मरोगैः स्वाचारहीनलघुजातिगणैश्च केतुः। – जा. पा. 2/80

अभ्यास प्रश्न –

1. किस शास्त्र में कालगणना की जाती है ?
2. मेष राशि से कौन कौन से रोग विचारणीय होते हैं ?
3. हृदय रोग का विचार मुख्यरूप से किस राशि से किया जाता है?
4. किस ग्रह को विश्व की आत्मा कहा जाता है ?
5. निद्रारोग का मुख्य कारक ग्रह कौन है ?
6. केतु से कौन कौन से रोग विचारणीय हैं ?

4.3.3 – द्वादश भावों में रोग विचारणीय भावविचार

ज्योतिष शास्त्र में द्वादश भावों में स्थित राशि ग्रहवशाद् भी शुभाशुभ एवं आयु, रोग इत्यादि का विचार किया जाता है। जन्म कुण्डली में तृतीय एवं अष्टम भाव को आयु का स्थान कहा गया है वही उनसे द्वादश अर्थात् द्वितीय व सप्तम भाव की मारक संज्ञा की गई है। अष्टम से एकादश एवं तृतीय से चतुर्थ भाव से रोग का विचार किया जाता है। द्वादश भाव से भी रोग का विचार किया जाता है। अब हम रोगविचारणीय भावों के बारे में विस्तृत अध्ययन करते हैं।

4.3.3.1 – षष्ठ, अष्टम एवं व्ययस्थान से रोगविचार–

षष्ठ (रोग) भाव, षष्ठ भाव में स्थित ग्रह, द्वादश तथा अष्टम स्थान में स्थित ग्रह और इन भावों के स्वामी ग्रह, षष्ठेश ग्रह, षष्ठेश से युक्त या दृष्ट ग्रह एवं भाव से रोग का विचार किया जाता है।

रोगस्य चिन्तामपि रोगभावस्थितै ग्रहैर्वा व्ययमृत्युसंस्थैः।

रोगेश्वरेणापि तदन्वितैर्वा द्वित्रया दिसम्बादवशात् वदन्तु।।– फलदीपिका 14/01

छठे (रोग) भाव में स्थित ग्रह भी रोग कारक होता है। यह ग्रह जिस राशि एवं भाव का स्वामी हो या कारक हो वह राशि और भाव काल पुरुष के जिस अंग में पडते हों

या जिस अंग के कारक हों जातक के उसी अंग में रोगोत्पत्ति करता है। किन्तु यह ध्यान रहे कि ऐसा ग्रह जब पापग्रह या पापप्रभाव में हों तभी रोगोत्पत्ति करता है। शुभ प्रभाव होने पर नहीं[39]। कारण यह है कि छठा भाव शत्रु संज्ञक भी होता है जो शारीरिक प्रगति, उन्नति एवं पुष्टि को रोकता है। अतः यह दौर्बल्यवश रोग कारक हो जाता है। साथ ही छठे से बारहवां भाव अर्थात् प×चम भाव का स्वामी छठे भाव में होकर पुत्रकारक गुरु एवं सूर्य से युक्त हो तो उसकी पत्नी को गर्भास्राव होता है अथवा मृत सन्तान उत्पन्न होती है। आशय यह है कि सन्तति भाव का स्वामी एवं कारक दोनों जब छठे भाव में हों तो गर्भ की पुष्टि या वृद्धि सम्भव नहीं है। अपितु प×चम भाव का शुभ फल नष्ट होने से गर्भस्राव या गर्भस्थ शिशु की मृत्यु होना स्वाभाविक है[40]।

अष्टम भाव को रन्ध्र, मृत्यु, आयु आदि का भाव भी कहा जाता है। मृत्यु या नाश भाव होने के कारण यह देहसुख के ह्रास का कारक होता है। यह भाग्य स्थान का व्यय होने के कारण संचित या प्रारब्ध कर्म की अशुभता का सूचक भी है। व्ययस्थान लग्न से 12वां भाव होने के कारण स्वास्थ्य एवं शरीर के क्रमिक ह्रास का प्रतिनिधि स्थान है। इन्हीं कारणों से व्यय एवं अष्टम स्थान रोग के कारक माने गए हैं। इन दोनों भावों में स्थित ग्रह अपनी राशि, भाव एवं कारकत्व के अनुसार अशुभ फलदाता होकर रोगोत्पत्ति करते है। ज्योतिषशास्त्र के सभी आचार्यों ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि छठे एवं आठवें भाव में स्थित सभी ग्रह नेष्ट होते हैं – **सर्वे नेष्टा व्ययष्टमगाः** । वैद्यनाथ के द्वारा इस मत की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि क्रूर से लग्नेश छठे, आठवें या बाहरवें स्थान में हो तो शारीरिक सुख की हानि होती है–

सक्रूरदेहपो देहसौख्यहन्त्यरिरन्ध्रगः।

यहां सक्रूर शब्द इस योग को बल दे रहा है, क्योंकि शुभयुत या शुभ दृष्ट होने पर कोई रोग विषयक प्रबल योग बनने की सम्भावना कम ही होती है। आठवें एवं बारहवें भाव में स्थित सूर्य नेत्रकारक होने के कारण नेत्रपीडा का कारक होता है–

---

39 . यद् भावनार्था रिपु रिष्कन्ध्रे दुःस्थानयो यद् भवनस्थितोवा।
तद् भावनाशं कथयन्ति तज्ज्ञाः शुभेक्षितेश्चते पफलमन्यथा स्यात्।। ;जा. पा. अ. 11, श्लो 04)

40 . सुतेशे रिपुमावस्थे कारके रवि संयुते।
गर्भास्त्राावयुता भार्या ज्ञायते च मृतप्रजा।। ;सर्वार्थचिन्तामणि अ. 5 श्लो. 17)

विकलनयनोऽष्टमस्थे धनसुखहीनोल्पजीवितः पुरुषः।

तथा विकलशरीरः काणः पतितो बन्ध्यापति पितुरमित्र।

द्वादशसंस्थे सूर्ये बलरहितो जायते क्षुद्रः ।। – भा. ज्यो रोगविचार पृ. 42

महर्षि पराशर के अनुसार अष्टम एवं तृतीय स्थान आयु के स्थान है। इन दोनों के क्रमशः व्ययस्थान होने के कारण सप्तम एवं द्वितीय स्थान मारक स्थान कहलाते है। प्रायः सभी आचार्यो ने द्वितीय एवं सप्तम भाव को मारक भाव एवं उनके स्वामियों को मारकेश की संज्ञा दी है। जैमिनी द्वारा छिद्र, रुद्र एवं शूल ग्रहों की परिकल्पना की गई, जो मृत्यु के कारक होते है। ये मारक ग्रह अपनी दशान्तर्दशा मे आयुर्दाय की समाप्ति के समय मृत्यु देते है–

अष्टमं ह्यायुषस्थानमष्टमादष्टम×च यत्।

तयोरपि व्ययस्थानं मारकंस्थानमुच्यते।

तदीशितु तत्र गताः पापिनस्तेन संयुताः।

तेषां दशा विपाकेषु संभवे निधनं नृणाम् ।। – लघुपाराशरी अ. 03, 01–02

4.3.3.2– राशि एवं भावों के परस्पर सम्बन्ध से रोगोत्पत्ति विचार –

जैसा कि आप जानते ही हैं कि प्रत्येक ग्रह एवं राशि द्वारा अलग–2 रोगों का विचार किया जाता है। मुख्य रूप से छठे, आठवें एवं बारहवें भावों को रोग विचार हेतु संज्ञान में लाया जाता है। साथ ही पाप एवं शुभ ग्रहों का राशिगत संचरणानुसार भी फल रोगोत्पति के लक्षण एवं कारणों को दर्शाता है। राशि एवं भावों की परस्पर स्थिति द्वारा रोगोत्पत्ति के लक्षणों को इस प्रकार कहा जा सकता है–

1. पाप ग्रहों के मध्य में रोगकारक ग्रहों की स्थिति।
2. पाप ग्रहों की युति या पापग्रहों की दृष्टि।
3. त्रिक् स्थान से सम्बन्ध।
4. भाव, राशि या इनके स्वामियों की निर्बलता।
5. स्वामियों की अनिष्ट स्थान में स्थिति।
6. भाव से चतुर्थ, अष्टम एवं द्वादश स्थान में या त्रिकोण स्थान में पापग्रहों का होना।

7. रोग कारक ग्रहों से सम्बन्ध।
8. शुभ ग्रहों का प्रभावी न होना या निर्बल होना।

जिस राशि या भाव के फल में विकार या हानि का कोई स्पष्ट कारण न दिखलाई दे, वह राशि या भाव शरीर के शीर्ष आदि जिस अंग या वात आदि जिस विकार का प्रतिनिधित्व करता हो, शरीर के उस भाग में वात पित्तादि के प्रकोप वश रोग होता है। किन्तु किसी भाव या राशि पर शुभग्रहों का प्रभाव (दृष्टि या युति) हो तो वह रोग उत्पन्न नहीं होने देता है। इसलिए भाव या राशि पर राशि पर शुभ ग्रहों का प्रभाव न होने पर ही वे रोगकारक बनते हैं।

अभ्यास प्रश्न

7. किन भावों को आयु स्थान कहा जाता है?
8. मारक स्थान किन किन भावों को कहते हैं?
9. रोग भाव कौन सा है?
10. सक्रूरशब्द का क्या अभिप्राय है?
11. पापग्रहों की युति या दृष्टि राशि या भाव पर होने से क्या फल होता है?

4.4 जन्म जात एवं आगन्तुक रोग

ज्योतिषशास्त्र में मानवजन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त उसके अर्जित कर्मों के आधार पर शुभाशुभ फल कथन की रीति अत्यन्त प्राचीन है। किन्तु मानव स्वास्थ्य में उत्पन्न होने वाले विकारों को दृष्टिगत करते हुए उनका सम्बन्ध कर्मसिद्धान्त द्वारा विवेचित किया जाता है। पूर्वजन्म जन्मान्तरों में भी किए गए शुभाशुभ कर्मफल को इस जन्म में भी अनुमानित किया जाता है। रोग दृष्टि से मानव में जन्मजात एवं आगन्तुक दो प्रकार के रोगों का सम्बन्ध कर्मफल है। जिसे जन्म कुण्डली के आधार पर विश्लेषित किया जाता है।

4.4.1– जन्मजात रोग –

जातकशास्त्र के मानक ग्रन्थों में लूलापन, लंगडापन, अन्धापन, कानापन, गूंगापन, बहिरापन, नपुंसकता एवं जडता प्रभृति जन्मजात शारीरिक एवं मानसिक रोगों का विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। ये जन्मजात रोग व्यक्ति के प्रारब्ध (पूर्वार्जित अशुभ कर्म) तथा माता–पिता के द्वारा किए गए अनुचित कर्मों के परिणामस्वरूप होते है। अतः इन रोगों का विचार जन्म कुण्डली एवं गर्भाधान कुण्डली से किया जाता है। व्यक्ति की जन्मकुण्डली के योग उसके पूर्वार्जित कर्मो के परिणाम को दर्शाते है। गर्भाधान कुण्डली के ग्रहयोग गर्भाधान से लेकर प्रसव काल पर्यन्त की समस्त गतिविधियों को प्रकाशित करते है। इस प्रकार जन्मकुण्डली के ग्रहयोगों से व्यक्ति के पूर्वार्जित कर्मों के परिणाम स्वरूप होने वाले जन्मजात रोगों की तथा गर्भाधान कुण्डली के ग्रहयोगों से उसके माता–पिता द्वारा किए गए अनुचित कार्यों के परिणामस्वरूप होने वाले जन्मजात रोगों की सुस्पष्ट जानकारी प्राप्त होती है।

4.4.2 आगन्तुक रोग –

जन्म के बाद उत्पन्न होने वाले रोग (शारीरिक एवं मानसिक) आगन्तुक रोग कहलाते है। ये रोग प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष भेद से दो प्रकार के होते हैं –

1 प्रत्यक्ष या दृष्टनिमित्तजन्य रोग 2. अप्रत्यक्ष या अदृष्टनिमित्तजन्य रोग

4.4.2.1 दृष्टिनिमित्तजन्यरोग –

चोट शाप संसर्ग महामारी, भय एवं अभिचार जैसे प्रत्यक्ष कारणों से उत्पन्न रोगों को दृष्टिनिमित्त जन्य रोग कहते है। ये रोग अधिकांशतः अकस्मात् या अप्रत्याशित रूप से होते हैं। अतः इन्हें आकस्मिक रोग भी कहा जाता है। आकस्मिक रोग–व्यधियों का प्रमुख प्रतिनिधि ग्रह मंगल होता है। शास्त्रानुसार यह ग्रह अग्नि, विष, एवं शस्त्र से पीडा, दुर्घटना, विस्फोट, युद्ध आदि से भय शत्रुता, विनाशाकारी संकल्प, मारणादि अभिचार तथा षडयन्त्र आदि का प्रतिनिधित्व करता है। इन समस्त आकस्मिक उपद्रवों में राहु, केतु व अन्य पापग्रह भी इसके सहयागी बनते हैं।

चोट, दुर्घटना, महामारी भय, शाप एवं अभिचार के मूल में प्रकृति से व्यक्ति का उग्रतम विरोध मुख्य कारण है। जब किसी व्यक्ति का किसी अन्य से किसी कारण वश विरोध उत्पन्न होता है तथा यह विरोध उग्रतम रूप धारण कर लेता है तव वह अपना विरोध प्रकट करने के लिए भय, शाप, अभिचार या घात का सहारा लेता है, और इसी प्रकार जब प्रकृति उग्र हो जाती है तो वह अपना विरोध दुर्घटना एवं महामारियों के द्वारा व्यक्त करती है। जन्म कुण्डली में इस उग्रतम विरोध एवं विरोध करने वाले शत्रु का प्रतिनिधित्व मंगल ग्रह एवं षष्ठ भाव करता है। अतः दृष्टिनिमित्तजन्य रोगों का विचार मंगल, उसके सहयोगी पापग्रह, षष्ठभाव, षष्ठेश, षष्ठस्थान में स्थित ग्रह एवं षष्ठस्थान को देखने वाले ग्रहों से होता है।

दृष्टिनिमित्तजन्य रोगों में चोट एवं दुर्घटना प्रमुख हैं। इस विषय में जातकशास्त्र के ग्रन्थों में विविध योगों के आधार पर न केवल चोट या दुर्घटनाग्रस्त होने का विचार किया गया है अपितु चोट कब लगेगी? चोट या दुर्घटना का कारण क्या होगा? चोट या दुर्घटना से अंग भंग होगा या नहीं ? चोट या दुर्घटना से मृत्यु होगी या नहीं ?– इन सभी प्रश्नों का विचार किया गया है। इसके साथ ही चेचक, हैजा, तपेदिक एवं प्लेग जैसे महामारी एवं संसर्गजन्य रोगों का, जलभय, अग्निभय, विषभय, सर्पभय, पशुभय एवं जीवजन्तु से भय एवं पीडा मिलने का तथा शाप एवं अभिचार जन्यरोगों का विचार किया जाता है। कौन व्यक्ति उपर्युक्त रोगों के लक्षणयुक्त होकर मानसिक या शरीरिक पीडा से व्यथित होगा? इसका कारण जानकर शास्त्रीय रीति से उपर्युक्त रोगों के निदान का प्रयास किया जाता है।

4.4.2.2 – अदृष्टिनिमित्तजन्य रोग –

परोक्ष (अदृष्टिनिमित्तजन्य) रोग आगन्तुक रोगों का दूसरा भेद है। जो रोग पूर्वार्जित कर्मो के अशुभ प्रभाव से मानवशरीर एवं मस्तिष्क को रुग्ण बना देते है। उन्हें अदृष्टिनिमित्तजन्य रोग कहते है, ये रोग अधिष्ठान भेदसे दो प्रकार के होते है, शारीरिक एवं मानसिक। अदृष्ट निमितजन्य रोग भी दो प्रकार के होते हैं 1. अंगविकार 2. सर्वांग विकार।

ये रोग निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट हैं –

कम सं.	**अंग**	**उत्पन्न होने वाले रोग**
1.	**शिर**	शिर, शूल, गंजापन, उन्माद,मिरगी एवं मूर्च्छा आदि।

2.	**नेत्रा**	अन्ध्त्व, काणत्व, भेंगापन, रतौंधी।
3.	**कान**	बधिरत्व, कम सुनाई देना, कर्णशूल इत्यादि।
4.	**नाक**	नाक कटना एवं अन्य नासिका रोग।
5.	**मुख**	मूकत्व, हकलाहट, तुतलाहट, दन्तरोग एवं तालुरोग इत्यादि।
6.	**गला**	गलगण्ड, गण्डमाला एवं अन्य कण्ठरोग।
7.	**हाथ**	लूलापन एवं हाथ कटना।
8.	**हृदय**	हृदयशूल, हृत्कम्प, हृदय रोग एवं वक्ष के रोग।
9.	**उदर**	मन्दाग्नि, अजीर्ण, अतिसार, संग्रहणी, गुल्म, कृमि,जलोदर, पाण्डु एवं उदरशूल आदि।
10.	**बस्ति**	मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी।
11.	**जननेन्द्रिय**	प्रमेह, प्रदर, नपुंसकता, बन्ध्यत्व, वीर्यविकार, उपदंश, शूक, वृषण रोगादि।
12.	**गुदा**	अर्श एवं भगंदर
13.	**पैर**	जंघाक्षति, पंगुता, लंगडापन, श्लीपद।

लग्नादि द्वादश भाव तथा मेष आदि बारह राशियां मनुष्य के शरीर के शिर से लेकर पैर तक विविध अंगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः अंगों में उत्पन्न होने वाले रोगों में भाव एवं राशियों की प्रमुखता रहती है। यद्यपि ग्रह मनुष्य के शरीर के विविध अंग धातु एवं दोषों का प्रतिनिधित्व करते हैं किन्तु धातु एवं दोषों का प्रतिनिधित्व करने के कारण अंगों के रोगों में उनका सहायकत्व स्वीकार किया गया है। इस प्रकार अंगों के प्रतिनिधि भाव एवं राशियों पर बाधक ग्रह तथा पापग्रहों के प्रभाववश बनने वाले योगों से विविध अ्ंगों में उत्पन्न होने वाले रोगों, विकारों का विचार किया जाता है।

अदृष्टनिमित्त जन्य शारीरिक रोगों का दूसरा भेद सर्वांग विकार माना गया है। इस वर्ग में ऐसे रोग आते है, जिनका शरीर के किसी एक अंग विशेष से सम्बन्ध न होकर धातु या दोष (वात्त,पित्त,कफ) से सम्बन्ध होता है। जैसे आमवात, शूल, सन्धिशूल, पक्षाघात, रक्तपित्त, दाह, तृष्णा, कफ, खांसी, क्षय, ज्वर, पाण्डु, सूखा, शोफ, स्थौल्य, फोडा, फुन्सी,

व्रण, दाद, कुष्ठ आदि। इन रोगों के विचार में बाधक ग्रह की प्रमुखता रहती है। तथा भाव एवं राशियों का सहायकत्व। इन सभी रोगों की उत्पत्ति का मुख्य कारण पूर्वार्जित अशुभ कर्म माना गया है।

शारीरिक रोगों के बाद अदृष्टनिमित्तजन्य मानसिक रोगों का विचार किया जाता है। अदृष्ट या दैव प्रभाववश मन एवं मस्तिष्क से उत्पन्न होने वाले विकारों को मानसिक रोग कहते है। इन रोगों में प्रमुख हैं उन्माद एवं अपस्मार। आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी इन रोगों को कर्मज व्याधि कहा गया है। हर्ष, इच्छा, भय, शोक, आवेगों, विषम एवं अपवित्र भोजन, उपवास, अकारण, क्रोध, गुरुनिन्दा, देवनिन्दा, धर्मिक कार्य में त्रुटि, निराशा या शत्रुकृत, अभिचार आदि किसी प्रत्यक्ष कारण से किस रोगी को उन्माद हुआ है? इसको यथार्थ रूप में जान लेने की कोई निश्चित रीति आयुर्वेद शास्त्र में नहीं बतलायी गयी है। जबकि फलितज्योतिष में इस रोग के न केवल प्रत्यक्ष कारणों का निर्धारण करने के लिए परीक्षित योग बतलाये गये है, अपितु ग्रहयोग के द्वारा इसको उत्पन्न करने वाले अदृष्ट का विचार तथा उसके प्रतिकार की विधि भी बतलायी गयी है। मानसिक रोगों के कारण का विचार करते–करते जहां आयुर्वेद शास्त्र थककर विश्राम करने लगता है, ज्योतिष शास्त्र का कार्य वहाँ से आगे बढ उसके उत्पादक तथ्य का अन्वेषण करना है, और उसे इस अन्वेषणों में काफी सफलता भी मिली है।

अभ्यास प्रश्न –

12. रोग कितने प्रकार से होते है?नाम बताईये।

13. आगन्तुक रोग के कितने भेद हैं? नाम बताईये।

14. दुर्घटना, महामारी आदि किस प्रकार के रोग हैं ?

15. मानव में अंग विकार किस प्रकार का रोग है ?

16. बस्ति अंग से सम्बन्धित प्रमुख रोग कौन से हैं ?

4.5 – रोगनिवृत्ति के उपाय–

'इष्टप्राप्ति व अनिष्ट परिहार' वेदों का मुख्य प्रयोजन है। बन्धु, मित्र एवं सहयोगियों तथा स्वयं का शारीरिक एवं बौद्धिक प्रयास **दृष्टसामग्री** कहलाता है। वरदान, आर्शीवाद, देवीकृपा, भाग्य, एवं तान्त्रिक प्रयोगों का प्रभाव आदि **अदृष्टसामग्री** कहलाता है। जिस

प्रकार सभी प्रकार के कार्यो की सहायता सामग्री दृष्ट एवं अदृष्ट दोनों प्रकार की होती है उसी प्रकार दृष्ट एवं अदृष्ट निमित्त जन्यरोगों की निवृत्ति के उपाय भी दृष्ट एवं अदृष्ट भेद से दो प्रकार के होते है। दृष्ट उपायों को ग्रह चिकित्सा तथा अदृष्ट उपायों को प्रायश्चित कहते है।

4.5.1 ग्रहचिकित्सा विचार –

ग्रहों के अशुभ प्रभाव से छुटकारा पाने की वह रीति जिसमें मन्त्रानुष्ठान, जप, होम, दान, स्नान एवं रत्न धारणादि उपायों का वर्णन किया जाता है, को ग्रहचिकित्सा कहा जाता है। फलित ज्योतिष में ग्रह चिकित्सा के उपकरणों का सर्वांगीण तथा शास्त्रीय विवेचन करने के लिए वैदिक वाङ्मय में स्वतन्त्र शास्त्रों का भी प्रणयन हुआ है। रत्नविज्ञान, मन्त्रशास्त्र, आयुर्वेद एवं धर्मशास्त्रा मणि, मन्त्र, औषधि, दान एवं स्नान के समस्त शास्त्रीय पहलुओं का विस्तार से विवेचन मिलता है।

रत्नधारण प्रयोग के विषय में कहा गया है –

माणिक्यं तरणेः सुजात्यममलं मुक्ताफलं शीतगो–
र्माहेयस्य च विद्रुमं मरकतं सौम्यस्य गारुत्मतम्।।
देवेज्यस्य च पुष्पराजमसुराचार्यस्य वज्रं शने–
र्नीलं निर्मलमन्ययोश्च गदिते गोमेदवैदूर्यके।। – बृहद्दैवज्ञरंजनम् 32/241

सूर्य के लिए माणिक्य, चन्द्र के लिए मोती, मंगल हेतु मूंगा, बुध के लिए मरकत मणि या पन्ना, गुरु हेतु पुखराज, शुक्र हेतु हीरा, शनि के लिए नीलम, राहु हेतु गोमेद तथा केतु के लिए लहसुनिया की अंगूठी धारण करनी चाहिए।

यदि बहुमूल्य रत्न धारण करने में असमर्थता हो तो निम्नलिखित उपरत्न भी धारण किये जा सकते हैं जैसे मुहूर्तचिन्तामणि में कहा गया है –

ज्ञस्य मुदे सुवर्णम्। धार्यं लाजावर्तकं राहुकेत्वो रौप्यं शुक्रेन्द्वोश्च मुक्ता गुरोस्तु।।

लौहं मन्दस्यारभान्वोः प्रवालम्। – मु.चि. 32/243

अर्थात् बुध के लिए सोना, राहु व केतु के लिए लाजावर्त, चन्द्र व शुक्र के लिए चांदी, गुरु के लिए मोती, शनि के लिए लोहा एवं मंगल व सूर्य के लिए मूंगा धारण करना चाहिए।

इसी प्रकार आर्थिक परेशानी हो तो औषधियों की जड़ को धारण किया जा सकता है–

मूले धार्यं त्रिशूल्या सवितरि विगुणक्षीरिकामूलमिन्दौ
जिह्वाहेर्भूमिपुत्रे रजनिकरसुते वृद्धवारोश्च मूलम्।
भांगी जीवेऽथ शुक्रे भवति शुभकरं सिंहपुच्छस्य मूलं
विच्छोलं चार्कपुत्रे तमसि मलयजं केतुदोषेऽश्वगन्धम्।।–मु.चि.4/11

(पीयूषधाराटीका)

अर्थात् सूर्य के लिए त्रिशूली (बेल), चन्द्र हेतु क्षीरिणी, भौम के लिए नागजिह्वा, बुध में विधार, गुरु हेतु भांगी, शुक्र हेतु सिंहपुच्छ, शनि हेतु विच्छोल, राहु के लिए मलय चन्दन तथा केतु के लिए अश्वगन्ध की जड़ धारण करनी चाहिए।

ग्रहों की दक्षिणा के सन्दर्भ में बृहद्दैवज्ञरंजन में कहा गया है कि –

धेनुः शंखोऽरुणरुचिवृषः कांचनं पीतवस्त्रं,
श्वेतश्चाश्वः सुरभिरसिता कृष्णलोहं महाजः।।
सूर्यादीनां मुनिभिरुदिता दक्षिणास्तु ग्रहाणां,
स्नानैर्दानैर्हवनबलिभिस्तत्र तुष्यन्ति यस्मात्।। – बृ.दै.रं. 32/244

अर्थात् सूर्य हेतु गाय, चन्द्र हेतु शंख, मंगल के लिए लाल बैल, बुध हेतु सुवर्ण, गुरु के लिए पीले कपड़े, शुक्र हेतु श्वेत अश्व, शनि हेतु काली गाय, राहु हेतु काला लोहा, केतु के लिए बड़ा बकरा दक्षिणा है। ग्रहों के अनिष्ट निवारण हेतु औषधि स्नान, दान, हवन, बलिदान से सब ग्रह प्रसन्न होते हैं।

सूर्य के प्रीत्यर्थ पान, चन्द्र हेतु श्रीखण्ड या चन्दन, मंगल के लिए भोजन, बुध हेतु फूल, गुरु के लिए हरि– हर को नमन, शुक्र हेतु सफेद वस्त्र, शनि हेतु तेल दान, राहु व केतु के लिए ब्राह्मण को नमन करना चाहिए।

इसी प्रकार ग्रह चिकित्सा में ग्रहों के यन्त्रधारण का वर्णन मिलता है जो निम्न प्रकार से हैं (द्रष्टव्य बृ.दै.रं. 32/248–256)–

1. सूर्य यन्त्र (15)–

6	1	8
7	5	3
2	9	4

2. चन्द्र यन्त्र(18)–

7	2	9
8	6	4
3	10	5

3. मंगल यन्त्र(21)–

8	3	10
9	7	5
4	11	6

4. बुध यन्त्र(24)–

9	4	11
10	8	6
5	12	7

5. गुरु यन्त्र(27)–

10	5	12
11	9	7
6	13	8

6. शुक्र यन्त्र(30)–

11	6	13
12	10	8
7	14	9

7. शनि यन्त्र(33)–

12	7	14

13	11	9
8	15	10

8. राहु यन्त्र(36)–

13	8	15
14	12	10
9	16	11

9. केतु यन्त्र(39)–

14	9	16
15	13	11
10	17	12

4.5.2 रोगनिवृत्ति हेतु ग्रहमन्त्रजपानुष्ठान –

सूर्यादि ग्रहों की शान्ति हेतु शास्त्रों में नवग्रहों के वैदिक एवं तान्त्रिक मन्त्रों के साथ उनकी जप संख्या का भी समावेश किया गया है। वैदिक ग्रन्थों में ग्रहों के जो जप संख्या बताई है कलियुग में उसे चारगुना अधिक जप करने का विधान है।

यह मन्त्रानुष्ठान पवित्रस्थान में अपने घर, जलाशय के समीप या देवता के मन्दिर में पवित्र होकर करना चाहिए। स्मृतिग्रन्थों के अनुसार घर में एक गुना, नदी में दोगुना, गायों के गोष्ठ में दस गुना, अग्निशाला में सौ गुना, तीर्थ में हजार गुना और विष्णुभगवान् की प्रतिमा के पास बैठकर जप करने से अनन्त फल प्राप्त होता है (बृ.दै.रं. 32/257–258)। प्रतिदिन ग्रहों का विधिवत् ध्यान एवं पूजन करते हुए एकाग्र मन से निर्धरित संख्या में जप करके उसके दशांश हवन, हवन का दशांश तर्पण, तर्पण का दशांश मार्जन, मार्जन का दशांश तुल्य ब्राह्मणों को भोजन कराना मन्त्रानुष्ठान कहलाता है।

4.5.2.1 – ग्रहों के जपनीय वैदिक मन्त्र –

1. **सूर्य** – ''आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च हिरण्येन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्''।।

2. **चन्द्र –** ''इमं देवा असपत्न गॅू सुवध्वम् महते क्षत्राय महते ज्येष्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुस्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना गॅू राजा''।।
3. **मंगल –** ''अग्निर्मूर्धाः दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपा गॅू रेता गॅू सि जिन्वति स्वाहा''।।
4. **बुध –** उद्बुध्य स्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते स गॅू सृजेथा मयं च। अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत''।।
5. **गुरु –** बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद्द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु। यद्दीदयच्छवस ऋत प्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्''।।
6. **शुक –** ''अन्नात् परिसुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत् क्षत्रं पयः। सोमं प्रजापतिः ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपान गॅू शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोमृतं मधु''।।
7. **शनि –** शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः''।।
8. **राहु –** ''कयानश्चित्र आ भुवदूती सदा वृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता''।।
9. **केतु –** ''केतुं कृण्वन्न केतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः''।।

4.5.2.2 – ग्रहों के जपनीय तान्त्रिक मन्त्र –

1. सूर्य – ऊँ ह्रां ह्रीं ह्रौं सः सूर्याय नमः।
2. चन्द्र – ऊँ श्रां श्रीं श्रौं सः चन्द्रमसे नमः।
3. मघ्गल – ऊँ क्रां क्रीं क्रौ सः भौमाय नमः।
4. बुध – ऊँ ब्रां ब्रीं ब्रौं सः बुधाय नमः।
5. गुरु – ऊँ ग्रां ग्रीं ग्रौं सः गुरवे नमः।
6. शुव्रफ – ऊँ द्रां द्रीं द्रौं सः शुक्राय नमः।
7. शनि – ऊँ प्रां प्रीं प्रौं सः शनये नमः।
8. राहु – ऊँ भ्रां भ्रीं भ्रौं सः राहवे नमः।
9. केतु – ऊँ स्रां स्रीं स्रौं सः केतवे नमः।

जिस व्यक्ति की कुण्डली में जो ग्रह रोगकारक हो तथा जब–जब जिस रोग कारक ग्रह की दशान्र्तदशा आती हो तब तब उस ग्रह के वैदिक या तान्त्रिक मन्त्र का अनुष्ठान करना चाहिए।

4.5.2.3 – ग्रहों के मन्त्रानुष्ठान में जपादि संख्या

ग्रह	जप संख्या	हवन संख्या	तर्पण संख्या	मार्जन संख्या	ब्राह्मण भोज संख्या
सूर्य	28000	2800	280	28	03
चन्द्र	44000	4400	440	44	05
मंगल	40000	4000	400	40	04
बुध	36000	3600	360	36	04
गुरु	76000	7600	760	76	08
शुक्र	64000	6400	640	64	06
शनि	92000	9200	920	92	10
राहु	72000	7200	720	72	08
केतु	68000	6800	680	68	07

4.5.2.4 – रोगनिवृत्ति के अन्य उपाय–

आचार्य सुश्रुत का मत है कि उदररोग, गुदारोग, उन्माद, अपस्मार, रक्तस्राव, पंगुता, अन्धता, बधिरता, मूकता, प्रमेह, भगंदर, प्रदर, वातरोग, कुष्ठ, क्षय एवं पक्षाघात आदि रोग पूर्वकाल या पूर्वजन्म में किए गए परद्रव्यापहरण, गुरुपत्नी गमन एवं विप्रहत्या प्रभृति दुष्कर्मो के द्वारा होते है। इन रोगों को कर्मज कहते है। ये रोग केवल औषधियों के सेवन से ठीक नहीं होते हैं। अतः इन कर्मज असाध्य रोगों से मुक्ति पाने के लिए आचार्य सायण ने कर्मविपाक संहिता में इन सभी के प्रायश्चित्त तथा उनके करने की रीतियों का विस्तार से वर्णन किया है –

प्रायश्चित्तं दुश्शमरोगे शमना तत्रादुदितमपि।

कार्ये सर्वेष्ववदत् स्वग्रन्थे सायणोऽस्य वचनमिदम्।। – प्रश्नमार्ग अ. 13, श्लो. 25

तपेदिक जैसे रोगों का कारण ब्रह्महत्या आदि पाप है परन्तु वस्त्रादिदान से इसका प्रायश्चित किया जा सकता है –

राजयक्ष्मादिरोगणां ब्रह्महत्यादि कारणम्।

वस्त्रादानादिकं प्रायश्चित्तं तद्दिगितीरिता।। – तत्रैव श्लो. 033

इसीलिए ग्रहचिकित्सा द्वारा जिन रोगों का निवारण न हो तो प्रायश्चित द्वारा उनका निवारण करना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न –

17. सूर्य के प्रीत्यर्थ कौन सा बहुमूल्य रत्न धारण करना चाहिए ?

18. चन्द्र के प्रीत्यर्थ किस औषधि की जड़ धारण करनी चाहिए ?

19. मंगल के प्रीत्यर्थ क्या दक्षिणा देनी चाहिए ?

20. शनि के प्रीत्यर्थ क्या दान देना चाहिए ?

21. गुरु का जपनीय तान्त्रिक मन्त्र क्या है ?

4.6 सारांश

जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मानव जीवन में अनेकों उतार चढाव देखने को मिलते हैं। सुख–दुःख मानव जीवन में घटित होने वाली घटनाएँ निरन्तर मानव के मन मस्तिष्क को प्रभावित करती है। किन्तु मानव पूर्वार्जित कर्मो के आधार पर ही वर्तमान में होने वाली घटनाओं से सम्बन्ध बनाता है। मानव शरीर में रोगोत्पत्ति होना भी उसके पूर्वार्जित कर्मो का वहीं कारण बनता है। आयुर्वेद में भी रोगोत्पत्ति के दो कारण माने गए है – **1. कर्म प्रकोप 2. दोष प्रकोप। कर्मजा व्याधयः केचिद् दोषजाः सन्ति चापरे।** – चरकसंहिता उत्तरतंत्र अ.40

जन्मजन्मान्तरों में किए गए कर्मों का फल ही वर्तमान जन्म में रोगों के कारण बनते हैं। यही ''दैव'' कहलाते हैं व रोगोत्पत्ति के प्रमुख कारण हैं। जन्म या जन्मान्तर में किए कर्मो का फल अनिवार्य रूप से भोगना पडता है। उसी से कर्मानुबन्ध बनता है। कर्मानुबन्ध के कारण ही आत्मा अनेक योनियों में जन्म लेकर प्राप्त शरीर द्वारा जरा, व्याधि एवं मृत्यु

प्राप्त करती है। ज्योतिषशास्त्र में इन्हीं कर्मों को ग्रहों के द्वारा विश्लेषित कर शुभाशुभ फल सूचित किया जाता है। जिसमें रोगों का विचार भी प्रमुख है। रोग कब होगा? कौन सा होगा? कितनी उम्र में होगा? साध्य होगा या असाध्य? उसका उपचार कैसे होगा? समस्त बिन्दुओं पर ज्योतिषशास्त्र का विचार अद्भुत एवं संतोषजनक रहा है। सूर्यादि नवग्रहों द्वारा उत्पन्न होने वाले, 12 राशियों के द्वारा रोगोत्पत्ति एवं ग्रहों की युति दृष्टि वशात् रोगों की उत्पत्ति के विषय में विशद चर्चा प्रस्तुत पाठ में की गई है। जन्म कुण्डली में मुख्यतः षष्ठ–अष्टम एवं द्वादश भाव को रोगकारक भाव के रूप में लिया गया है। किन्तु लग्न–सप्तम एवं द्वितीय भाव भी रोगोत्पत्ति में सहायक होते है। रोगनिवृत्ति हेतु ग्रहों के जपनीय मन्त्रानुष्ठान की विधि भी बताई गई है। जिसके द्वारा जातक के जीवन में आने वाले कष्टों या उत्पन्न होने वाले रोगों का निवारण किया जा सके। यह शास्त्र जीवन में आने वाले कष्टों से अवगत कराने में अति सहायक है–

यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः पंक्तिम्।

व्य×जयति शास्त्रमेतत् तमसि द्रव्याणि दीप इव।।– लघुजातक अ. 01, श्लो. 02

4.7 – शब्दावली –

मनीषी	=	विद्वान्, चिन्तक
अरिष्ट	=	अशुभ
आहार–विहार	=	खान–पान, घूमना
क्रान्तिवृत्त अश्विन्यादि	=	राशिवृत्त, जिसमें मेषादि राशियों एवं नक्षत्रों की गणना परिकल्पित है। सूर्य को इसी वृत्त में घूमता हुआ माना गया है।
निद्राटन	=	नींद में चलना
अतिसार	=	पेचिस रोग
मन्दाग्नि	=	भूख न लगने की बीमारी
कामिला	=	पीलिया
पीनस	=	पुराना जुकाम

बृहद्बीज	=	अण्डकोशवृद्धि
संग्रहणी	=	पेट खराब होना, मरोड़ के साथ दस्त लगना
प्रमेह	=	मधुमेह रोग का आरम्भिक लक्षण
मधुमेह	=	डायबिटीज
श्लेषमा	=	कफ विकार
धातुक्षय	=	वीर्यहानि
पक्षाघात	=	लकवा
मसूरिका	=	मस्सा
अपस्मार	=	मिर्गी रोग
गण्डमाला	=	घेंघारोग
जलोदर	=	पानी भरने से पेट का फूलना
व्यय	=	द्वादश भाव
रोगभाव	=	षष्ठभाव
रन्ध्र	=	छिद्र, आठवां भाव
मारकेश	=	मारकस्थान (द्वितीय व सप्तमभाव) का स्वामी
त्रिकस्थान	=	6, 8,12 स्थान
पूर्वार्जित	=	पूर्व में एकत्रित किए हुए
श्लीपद	=	हाथीपांवरोग, एक उष्णकटिबन्धीय रोग जो लसिका ग्रन्थि एवं नाड़ियों को प्रभावित करता है।
परद्रव्यापहरण	=	दूसरे के धन की चोरी करना

4.8. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर –

1. ज्योतिष
2. नेत्ररोग, मुखरोग, सिरदर्द, मानसिक तनाव, उन्माद एवं निद्रा
3. कर्क
4. सूर्य

5. चन्द्र
6. श्वेतकुष्ठ, गर्भस्राव, चर्मरोग, कण्डूरोग, मसूरिका, जलोदर एवं विषरोग
7. तृतीय, अष्टम
8. द्वितीय, सप्तम
9. षष्ठ
10. पापग्रह सहित
11. रोग सम्भावना
12. दो भेद, जन्मजात व आगन्तुक
13. दो भेद, प्रत्यक्ष (दृष्टनिमित्तजन्य) एवं अप्रत्यक्ष (अदृष्टनिमित्तजन्य)
14. दृष्टनिमित्त
15. अदृष्टनिमित्त
16. मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी
17. माणिक्य
18. क्षीरिणी
19. लाल बैल
20. तेलदान
21. ¬ ग्रां ग्रीं ग्रौं सः गुरवे नमः।

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ज्योतिष शास्त्र में रोग विचार, डॉ. शुकदेव चतुर्वेदी, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण 1984.
2. बृहद्दैवज्ञरंजन, रामदीनदैवज्ञ, व्याख्याकार–डॉ.मुरलीधर चतुर्वेदी, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड़, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण 2001
3. फलदीपिका, मन्त्रेश्वर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् 1975.
4. बृहत्पाराशर होराशास्त्रम् म. खेलाडीलाल संकटाप्रसाद, वाराणसी, सन् 1968.
5. कर्मविपाक संहिता, भार्गव पुस्तकालय, काशी सम्वत् 1989.
6. सर्वार्थचिन्तामणि, गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई सम्वत् 2012.

7. सिद्धान्तशिरोमणि गणिताध्याय, महामण्डल शास्त्र प्रकाशक समिति, काशी, 1913.

4.11 – निबन्धात्मक प्रश्न

1. ज्योतिषशस्त्रा में रोगों के विचारणीय भावों का उल्लेख कीजिए ?
2. द्वादश राशियों के विचारणीय रोगों का वर्णन कीजिए ?
3. रोगनिवृत्ति हेत्तु ज्योतीषीय उपागमों का साघ्गोपाघ्ग विवेचन कीजिए ?
4. जन्म कुण्डली में स्थित भावों की संख्या कितनी है ? नाम बताईये।
5. कालपुरूष के अंगों में राशियों का स्थान निरूपित कीजिए।
6. शरीरवर्णं चिह्नायुर्वयोमानं सुखासुखम्।
   ज्ञातीशीलं च मतिमाल्लँग्नात्सर्वं विचिन्त्येत्।। इस श्लोक की व्याख्या कीजिए।
7. राशियों की स्वभाववशात् उत्पन्न होने वाले रोगों के नाम लिखिए।
8. ''सर्वे नेष्टा व्ययाष्टमगाः'' वाक्य की समुचित व्याख्या करते हुए, रोगोंत्पत्ति में इन भावों की भूमिका दर्शाइए।
9. जन्मजात रोगों एवं आगन्तुक रोगों को स्पष्ट कीजिए।
10. रोगनिवृत्ति हेतु ज्योतिष प्रयोजन की स्पष्ट कीजिए?
11. जन्मकुण्डली में रोग विचारणीय भाव कौन कौन से हैं? विवेचना कीजिए।
12. रोगनिवृत्ति हेतु नवग्रहों के जप संख्यादि का वर्णन कीजिए ?
13. ''ग्रह चिकित्सा'' पर प्रकाश डालिए ?

इकाई – 5 रोगोपचार में ज्योतिष शास्त्र का योगदान

पाठ संरचना

5.1. प्रस्तावना

5.2. उद्देश्य

5.3. रोग निदान में ज्योतिष का प्रयोजन एवं क्षेत्र-

5.3.1- आयुर्वेद में रोगोत्पत्ति कारण

5.3.2- आयुर्वेद में ज्योतिष की उपकारिता

अभ्यासप्रश्न

5.4 ग्रहों की दशान्तर्दशा द्वारा रोगोत्पत्ति विचार

5.4.1- सूर्य की दशा में उत्पन्न होने वाले रोग

5.4.2- चन्द्रमा की दशा में उत्पन्न होने वाले रोग

5.4.3- मंगल की दशा में उत्पन्न होने वाले रोग

5.4.4- बुध की दशा में होने वाले रोग

5.4.5-गुरु की दशा में उत्पन्न होने वाले रोग

5.4.6-शुक्र की दशा में उत्पन्न होने वाले रोग

5.4.7- शनि की दशा में उत्पन्न होने वाले रोग

5.4.8- राहु की दशा में उत्पन्न रोग

5.4.9- केतू की दशा में उत्पन्न होने वाले रोग

5.4.10-अन्तर्दशा द्वारा रोगोत्पत्ति काल का निर्णय

अभ्यास प्रश्न

5.5- ग्रहयोग की रोगों में भूमिका

5.5.1- ग्रह-राशि एवं दशा द्वारा आयुर्दाय योग

5.5.2- मृत्युदायक दशान्तर्दशाएं

5.5.3- मृत्युदायक अन्य रोग

अभ्यास प्रश्न

5.5.4-रोगोपचार हेतु औषधि सेवन

5.5.5 – रोगोपचार हेतु दान

5.5.6 - रोगोपचार हेतु औषधिय स्नान

अभ्यास प्रश्न

5.6. सारांश

5.7. शब्दावली

5.8. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.9. सन्दर्भग्रन्थ/सहायक ग्रन्थ सूची

5.10. निबन्धात्मक प्रश्न

5.1. प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई MAJY-505 की पॉचवीं इकाई से सम्बन्धित है। आइए इस इकाई में रोगोपचार में ज्योतिष शास्त्र के योगदान से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन करते हैं।

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञा।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान्।।

चराचर जगत् के समस्त कार्य व्यवहार दिन-मास-वर्षादि कालगणना पर आधारित हैं। कालगणना के दिग्दर्शक होने से ही ज्योतिषशास्त्र को कालविधानशास्त्र कहा जाता है। इस चराचर सृष्टि के मूर्त्त रूप लेने के पश्चात् से ही जीवों की बुभुक्षा शमनार्थ अन्न-जल-फलादि का होना आवश्यक था। इनका उत्पादन, प्राप्ति आदि ऋतुओं पर निर्भर करता है। ऋतुओं का ज्ञान भी सूर्य से सम्भव है, जिसकी स्थिति का विवेचन करने वाला भी यह शास्त्र ही है।

कालविधानशास्त्र ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत - तीन स्कन्धों सिद्धान्त, संहिता और होरा शास्त्र का विस्तृत रूप प्राप्त होता है। जिसमें होरा शास्त्र के अन्तर्गत जातक की जन्मकुण्डली के द्वारा उसके जीवन के शुभाशुभ काल का ज्ञान करने में हम समर्थ होते हैं। जन्मकुण्डली में द्वादश भावों, राशियों एवं ग्रहों के द्वारा अनेक प्रकार से शुभाशुभ का विस्तृत विवेचन मानव कल्याण हेतु करने से यह शास्त्र लोकोपकारक शास्त्र भी कहा जाता है। लोकोपकारकत्व होने का गौरव वैदिक काल से ही यह शास्त्र प्राप्त किए है। ज्योतिष का स्वतन्त्र रूप यागादि कर्मों से अछूता नहीं रहा है क्योंकि वैदिक यज्ञादि काल की शुद्धता को ध्यान में रखकर किये जाते रहा है। ज्योतिषशास्त्र का मूल ध्येय मानव जीवन की सुखमय एवं आरोग्यमय बने रहने की कामना को साकार रूप प्रदान करने में सहयोग करना है। एक स्वस्थ शरीर ही नीरोगता को प्राप्त करता है।

होराशास्त्र मानव के जीवन के समस्त पहलुओं को छूता हुआ उसके जीवन में ग्रह प्रभाववश होने वाले उतार-चढ़ाव को सूचित करता है। वर्तमान युग में मानव स्वास्थ्य के समक्ष कई नकारात्मक समस्याएं दृष्टिगोचर हो रही हैं। दैहिक एवं मानसिक रोगों से पीडित मनुष्य जीवन की निरोगमय शतायु होने की कामना असम्भव सा दिखाई देती है। परन्तु आयुर्वेदादि शास्त्रों के गहन अध्ययन से जहाँ मानव शरीर का अवलोकन कर रोगों का लक्षण, कारण एवं निदानोपाय जाना जा सकता है, ज्योतिषशास्त्र के द्वारा मनुष्य जीवन में रोगोत्पत्ति होने के समय उसको न्यून करने के प्रयास को जाना

जा सकता है। अतः शास्त्रोक्त उपायों द्वारा रोग निदान का भी एक प्रशस्त मार्ग तैयार किया जाता है, जिसका अनुसरण कर मानव के जन्मजात, आगन्तुक या प्रारब्धवशात् उत्पन्न होने वाले रोगों का उपचार किया जा सकता है।

5.2. उद्देश्य-

इस पाठ के अध्ययन से आप -

- रोगोपचार में ज्योतिष की भूमिका को समझने में समर्थ होंगे।
- दशान्तर्दशा के माध्यम से रोगोत्पत्ति एवं उनके निवारणोपाय को जानने में समर्थ होंगे।
- विविध ज्योतिषीय योगों द्वारा रोगोत्पत्ति कारण जानने एवं उनके निवारण करने में कुशल होंगे।
- रोगोपचार में औषधीय प्रयोग का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- रोगनिवारण हेतु दान एवं स्नान सम्बन्धी वस्तुएँ औषधियों के नाम जानने में सक्षम होंगे।
- रोग परिज्ञान के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- मानसिक रोगों के कारण एवं उपचार को विस्तार से जानने में सक्षम होंगे।

5.3. रोग निदान में ज्योतिष का प्रयोजन एवं क्षेत्र-

जैसा कि आप जानते ही हैं कि ज्योतिष शास्त्र में मानव जीवन को सुखमय एवं आरोग्य बनाने हेतु विशिष्ट पहलुओं को ध्यान में रखते हुए उनका विश्लेषण किया गया है। वेदों के छः अङ्गों में ज्योतिष नेत्र रूप में प्रतिष्ठित है। अर्थात् नेत्र द्वारा ही मार्ग में आने वाले अवरोधों को जानकर उनसे बचा जा सकता है। मानव जीवन को ज्योतिष शास्त्र में शताधिक आयुशील माना गया है। इसी जीवन काल में ग्रह प्रभाववश रोगोत्पत्ति स्वाभाविक है। रोगों की उत्पत्ति के कारण, लक्षण व काल ज्योतिष शास्त्र में जन्मकुण्डली, प्रश्नकुण्डली, दशान्तर्दशादि के माध्यम से अनुमानित किया जाता है। पूर्वपाठांश में ग्रह, राशि एवं भाववशात् रोगों का वर्गीकरण कर तदनुसार रोग निदान के कतिपय उपाय बताये गए थे। प्रस्तुत पाठ में रोगोपचार में ज्योतिष की भूमिका को विस्तृत रूप से वर्णित

करने करने का प्रयास किया जा रहा है। जन्मकुण्डली के आधार पर वर्ण्य विषय का विस्तृत रूप प्राप्त तो होता ही है साथ ही प्रश्नकुण्डली के आधार पर भी रोगज्ञान व उसका फल जानना सुगम है-

पापर्क्षं प्रश्नलग्नं चेदष्टमं पापखेटयुक्।
पापेक्षितं वाऽन्तराले पापयोरष्टमे शशी।।
सपापो वा खला रन्ध्रे व्यये चन्द्रो नगेऽष्टमे।
लग्नेऽरिभे तदा मृत्युः सत्वरं रोगिणो भवेत्।।
चन्द्रे तनौ सप्तमेऽर्के कुजेऽजेऽलिनवांशगे।
चन्द्रेण सहिते मृत्युमादिशेद्रोगिणस्तदा।। (बृ.पा.हो.शा. 85/42-44)

अर्थात् यदि लग्न, पापग्रह की राशि का हो, अष्टमस्थान पापयुक्त अथवा पापदृष्ट हो या पापद्वयमध्यगत चन्द्र सपाप होकर अष्टमस्थ हों या पापाग्रह अष्टम अथवा द्वादशस्थ हो या चन्द्र प्रश्नलग्न से प्रथम, षष्ठ, सप्तम या अष्टम भाव में हो या चन्द्र लग्न में, सूर्य सप्तम में हो या मेषस्थ भौम वृश्चिकनवांशगत चन्द्र के साथ हो तो रोगी की मृत्यु सम्भावित है।

परन्तु सप्तम भाव में शुभ ग्रह हो, लग्नेश उदित हो, अष्टमेश निर्बल तथा लाभेश बली हो तो रोगी का कल्याण होता है अर्थात् वह रोगमुक्त होता है। प्रश्न लग्न से सप्तम में शुभ या पाप ग्रह दोनों हों तो मिश्रितफल जानना चाहिए (बृ.पा.हो.शा. 85/45-46) ।

इस प्रकार रोग विषयक सिद्धान्तों का नियमन जहाँ एक ओर ज्योतिषशास्त्र में किया गया, वहीं दूसरी ओर आयुर्वेद में भी ज्योतिषीय योगों का विचार किया गया है। हमारे शरीर एवं मन में उत्पन्न होने वाले विकार, जिनसे हमें किसी भी प्रकार का दुःख मिलता है, को रोग कहते हैं। इन रोगों की उत्पत्ति के कारक, लक्षण, भेद एवं चिकित्सा विधि में आयुर्वेद एवं ज्योतिष में क्या समानता है ? इसका विषय में भगवान धन्वन्तरि ने सुश्रुत से कहा है कि रोगी की चिकित्सा शुरु करने से पहले वैद्य को उसकी आयु की परीक्षा कर लेनी चाहिए । क्योंकि आयु के शेष होने पर ही चिकित्सा द्वारा वह ठीक हो सकता है । यदि आयु शेष हो तो रोग, ऋतु(मौसम), बल एवं औषधि का विचार कर चिकित्सा करनी चाहिए (सुश्रुतसंहिता-सूत्रस्थानम् 25/ 4-10)। फलित ज्योतिषशास्त्र में भी रोगी का फलादेश करने से पहले उसकी आयु की भली भांति परीक्षा करने पर जोर दिया गया है, यथा-

आयुः पूर्वं परीक्षेत् पश्चाल्लक्षणमादिशेत् ।

अनायुषां तु मर्त्यानां लक्षणैः किं प्रयोजनम् ।।
आयुरेव विशेषेण प्रथमं चिन्त्यतेऽधुना ।
स्वस्थमुद्दिश्य वा प्रश्न एवं वातुरमित्ययम् ।।प्रश्न 9/3,5

5.3.1- आयुर्वेद में रोगोत्पत्ति कारण-

आयुर्वेद में कर्मप्रकोप एवं दोषप्रकोप को रोगोत्पत्ति का कारण माना गया है-

"कर्मजा व्याधयः केचिद् दोषजाः सन्ति चापरे" । (चरक संहिता उत्तरतन्त्र अध्याय 40)

सामान्यता मिथ्या आहार एवं विहार से रोग उत्पन्न होते हैं। किन्तु जब मनुष्य ऋतु के अनुसार आहार विहार करता हो, सद्वृत्ति का सेवन करता हो एवं रोगोत्पत्ति का मौसम भी न हो और अचानक रोग उत्पन्न हो जाय तो उस रोग को कर्मजन्य रोग मानना चाहिए (**सुश्रुत संहिता उत्तरतन्त्र विमर्श- 40-163**)। वास्तविकता यह है कि आहार-विहार भी एक प्रकार का कर्म ही है, जिसके मिथ्या योग से रोग उत्पन्न होते हैं।

दर्शन शास्त्र में कर्म के तीन भेद माने गये है- 1.संचित, 2.प्रारब्ध एवं 3.क्रियमाण । आयुर्वेद मे कर्मजन्य रोगों का कारण जो कर्म माना गया है वह संचित कर्म है जिसके एक भाग को प्रारब्ध या दैव कहा गया है तथा मिथ्या आहार- विहार आदि क्रियमाण कर्म हैं। इस प्रकार कर्म प्रकोप एवं दोष प्रकोप दोनों के मूल में अशुभ या अनुकर्म ही एक मात्र हेतु दिखलाई देता है। इसीलिए ज्योतिषशास्त्र के आचार्यों ने मनुष्य के पूर्वाजित कर्म या जन्मजन्मान्तर में विहित पाप को रोग का कारण माना है, यथा-

जन्मान्तरकृतं पापं व्याधिरूपेण ज्ञायते ।। (प्रश्न-मार्ग 13/29)

आचार्य सुश्रुत का कहना है कि ब्राह्मण, स्त्री एवं सज्जन पुरुषों की हत्या तथा दूसरे के धन का अपहरण करने जैसे पापकर्मों से कुष्ठ रोग होता है-

"ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः ।

कर्माभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य लक्षणम्" ।। (सुश्रुतसंहिता निदान स्थान 5/29)

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मनुष्य का इस जन्म या जन्मान्तर में किया गया अशुभ कर्म ही रोगोत्पत्ति का मुख्य कारण है।

5.3.2- आयुर्वेद में ज्योतिष की उपकारिता-

आयुर्वेद ने कुछ रोगों को कर्मजन्य मान कर असाध्य कह दिया तथा ऐसे रोगों के निदान एवं चिकित्सा विधि पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला, उन कर्मजन्य रोगों के होने की सम्भावना, उनके प्रारम्भ एवं समाप्ति के काल तथा उनकी चिकित्सा विधि का ज्योतिषशास्त्र में विस्तार से वर्णन किया गया है। ज्योतिष शास्त्र यह बतलाने में समर्थ है कि किस व्यक्ति को पूर्वार्जित अशुभ कर्मों के प्रभाववश किस समय में कौन सा रोग होगा तथा उसका क्या परिणाम निकलेगा ? जिस प्रकार दोषजन्य व्याधियों का आयुर्वेद शास्त्र में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है, उसी प्रकार कर्मजन्य व्याधियों का ज्योतिषशास्त्र में साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है।

आयुर्वेद में कालकृत विशेषताओं के ध्यान में रखते हुए स्वास्थ्यरक्षक औषधि संचय, औषधि निर्माण एवं शल्य क्रिया का उपयोग व उनकी उपयोगिता का वर्णन भी प्राप्त है। अविकृत ऋतुओं में औषधि का संचय एवं निर्माण करने से ही वह गुणकारी होती है तथा वह ऋतु विकृति से उत्पन्न होने वाले रोगों को नष्ट कर देती है। दिन-रात, सर्दी-गर्मी एवं बरसात के प्रभाव के ध्यान मे रखकर शल्यक्रिया की जाती है। आयुर्वेद शास्त्र तो यहां तक कहता है कि काल की विशेषताएं अपने स्वभाव से ही दोषों का संचयन, प्रकोप, प्रशमन एवं प्रतिकार कर देती है। अतः योग्य चिकित्सक को कालकृत विशेषताओं को ध्यान में रखकर ही चिकित्सा करनी चाहिए। किन्तु काल ज्ञान एवं चिकित्सा हेतु उचित ऋतु,मास,पक्ष एवं दिनरात का ज्ञान ज्योतिषशास्त्र से ही सम्भव है। अतः जो चिकित्सक आवश्यक ज्योतिष नियमों को जानकर औषधि निर्माण या चिकित्सा करते है वे ही अधिक सफलता प्राप्त करते हैं (ज्योतिषशास्त्र में रोगविचार भूमिका पृ.xxi)। ज्योतिष शास्त्र में रोगारम्भ नक्षत्र के आधार पर रोगसमाप्ति का भी वर्णन मिलता है। यथा -

रोगारम्भ का नक्षत्र	**समाप्तिकाल**
उत्तराषाढ़ा, मृगशिरा	01 मास
धनिष्ठा, हस्त एवं मूल	15 दिन

चित्रा, रोहिणी, भरणी एवं श्रवण	11 दिन
मघा	20 दिन
पुष्य,ज्येष्ठा,उ.भा. एवं पू.फा.	07 दिन
मूल,अश्विनी एवं कृत्तिका	09 दिन

अभ्यास प्रश्न-

1. मेषस्थ भौम वृश्चिकनवांशगत चन्द्र के साथ हो तो क्या फल जानना चाहिए ?

2. "रोग" की समुचित परिभाषा लिखिए।

3. "आयुः पूर्व परीक्षेत् पश्चाल्लक्षणमादिशेत्" वाक्यांश की सन्दर्भित व्याख्या कीजिए।

4. दर्शनशास्त्र मे वर्णित कर्मों के भेदों के नाम बताइए।

5. औषधि ग्रहण, संचय एवं निर्माणादि के शुद्धकाल का परिज्ञान किस शास्त्र के द्वारा किया जाता है?

6. "आयुर्वेद में ज्योतिष की उपकारिता" किस प्रकार से है?

5.4 ग्रहों की दशान्तर्दशा द्वारा रोगोत्पत्ति विचार-

रोगेश, अष्टमेश, मारकेश, नीचराशिगत, शत्रुराशिगत, नीचांशगत, निर्बल, पापयुत, पापदृष्ट, अनिष्ट स्थान में स्थित, क्रूरषष्ठ्यंश में स्थित आदि ग्रह रोगकारक होते है। जीवन में जब-जब इन ग्रहों की दशा-अन्तर्दशा-प्रत्यन्तर्दशा, सूक्ष्मदशा एवं प्राणदशा आती है तब रोग सम्भावना प्रबल होती है। इससे पूर्व के पाठ में आप रोगकारक विभिन्न योगों के विषय में पढ चुके हैं। अब किस ग्रह दशा में कौन-कौन सा रोग हो सकता है ? यह अध्ययन ग्रहों के दशाफल के आधार पर इस पाठ में करेंगे।

5.4.1- सूर्य की दशा में उत्पन्न होने वाले रोग-

सामान्यतया सूर्य की दशा में ज्वर, पित्तप्रकोप एवं सिर दर्द होता है। किन्तु वह किसी कारण से रोग कारक हो तो विविध स्थितियों में विविध रोगों को उत्पन्न करता है। विविध स्थितियों में इसकी दशा में इसकी दशा में होने वाले रोगों का विवरण इस प्रकार है(सर्वार्थचिन्तामणि अध्याय-13)-

सूर्य की स्थिति	**उत्पन्न होने वाले रोग**

परम नीच दशा	विपत्ति एवं मृत्यु
अतिशत्रु राशिगत	शारीरिक कष्ट
शत्रुराशिगत	अग्नि एवं चोर भय
समराशिगत	लड़ाई में चोट
नीच ग्रह से युक्त सूर्यदशा	मनोविकार
पापदृष्ट सूर्यदशा	कृशता या कमजोरी
नीचांशस्थ सूर्यदशा (नीच राशि नवांश में)	ज्वर एवं प्रमेह
षष्ठस्थ सूर्यदशा	गुल्म,अतिसार, मूत्रकृच्छ एवं प्रमेह
अष्टमभावस्थ सूर्यदशा	अग्निभय, ज्वर एवं अतिसार
द्वादशभावस्थ सूर्यदशा	विषभय
द्वितीयभावस्थ सूर्यदशा	वाग्वैकल्य
चतुर्थभावस्थ सूर्यदशा	विष या अग्नि से भय
स्थानबलहीन सूर्यदशा	सन्ताप
क्रूरषष्ठ्यंशगत सूर्य दशा	कोपाधिक्य, सिरदर्द
सर्पद्रेष्काणयुक्त	विषभय

5.4.2- चन्द्रमा की दशा में उत्पन्न होने वाले रोग-

चन्द्रमा की दशा में सामान्यतया सर्दी, जुकाम, खाँसी, मूत्राधिक्य, मानसिक अस्थिरता एवं कामजन्य रोग उत्पन्न होते है। जब यह किसी कारण से रोग कारक हो जाता है, तो विविध रोगों को उत्पन्न करता है। चन्द्रमा की दशा में उत्पन्न होने वाले विविध रोगों का वर्णन इस प्रकार है (ज्योतिषशास्त्र में रोग विचार पृ. 145)-

चन्द्र की विविध स्थितियां	**उत्पन्न होने वाले रोग**
नीचांशगत	तालाब या जलाशय में गिरना
अतिशत्रुराशिगत	कलह एवं उद्वेग
नीचराशिगत	अग्निभय

क्षीणचन्द्र	उन्माद
पापयुक्त चन्द्र	अग्निभय एवं मनोव्यथा
षष्ठभावगत	मूत्रकृच्छ्र
अष्टमभावस्थ	जलभय
क्रूरद्रेष्काण युक्त	विविध रोग

5.4.3- मंगल की दशा में उत्पन्न होने वाले रोग-

मंगल की दशा में सामान्यतया रक्त विकार,चोट, दुर्घटना, लड़ाई तथा राजा से शारिरिक दण्ड मिलता है। किन्तु जब यह किसी कारण वश रोगकारक हो जाता है तो विविध स्थितियों में अपनी दशा के समय में निम्नलिखित रोगों को उत्पन्न करता है।

भौम की विविध स्थितियां	**उत्पन्न होने वाले रोग**
नीचस्थ मंगल	चोर पीड़ा एवं अग्निभय
शत्रुराशिगत	प्रमाद,मूत्रकृच्छ्र, गुदारोग, नेत्ररोग
नीचग्रह युत	मानसिक विकार
केन्द्रस्थ	विषजन्य रोग
सप्तमस्थ	मूत्रकृच्छ्र एवं गुदा रोग
द्वितीय भावस्थ	मुख एवं नेत्र के रोग
पंचमस्थ	जड़ता एवं बुद्धिभ्रम
अष्टमस्थ	विस्फोट,विसर्प, फोड़ा
नीचांशगत	राजा से शारीरिक दण्ड
वक्री मंगल	सर्पदंश

5.4.4- बुध की दशा में उत्पन्न होने वाले रोग-

बुध की दशा में सामान्यतया ज्वर, चर्मरोग, एलर्जी एवं मानसिक अस्थिरता रहती है। किन्तु जब यह किसी कारणवश रोगकारक बन जाता है तो इसकी दशा में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। इसके रोगकारक बनने के कारण तथा दशाकाल मे उत्पन्न होने वाले रोगों का विवरण इस प्रकार है-

बुध की विविध की स्थितियां	**उत्पन्न होने वाले रोग**

शत्रुराशिस्थ बुध की दशा	विपत्ति
समराशिगत	फोड़ा फुन्सी
नीचराशिगत	मानसिक रोग
पापदृष्ट	कृच्छ्र रोग
तृतीय भावस्थ	जड़ता एवं गुल्म
पञ्चमस्थ	चिन्ता,सिरदर्द
षष्ठ या अष्टमस्थ	चर्मरोग,वमन,पाण्डु(पीलिया)
द्वादशस्थ	अङ्गो में विकलता, अपमृत्यु
अस्तंगत	मानसिक व्यथा, आँख व कान के रोग
षष्ठ्यंशगत	चोर, अग्नि एवं राजा से भय

5.4.5-गुरु की दशा में उत्पन्न होने वाले रोग-

गुरु की महादशा में सामान्यतया गुल्म,उदरविकार एवं स्थूलता (मोटापा) बढ़ती है किन्तु जब यह किसी कारणवश रोग कारक बन जाता है तो उसकी दशा में निम्न रोग उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक रहती है।

गुरु की विविध स्थितियां	**उत्पन्न होने वाले रोग**
अति नीचांशगत	मानसिक व्यथा
नीच ग्रह युक्त	मानसिक रोग
नीचांश युक्त	गुल्म, विचर्चिका
अस्तंगत	अनेक रोग
षष्ठस्थ	मेदरोग, वातरोग, उदररोग

5.4.6-शुक्र की दशा में उत्पन्न होने वाले रोग-

शुक्र की दशा मे सामान्यतया वीर्य रोग, काम जन्य रोग एवं स्त्रीसंसर्गजन्य रोगों के होने की सम्भावना रहती है । किन्तु जब शुक्र रोगकारक हो जाय तो अपनी दशा में निम्न रोगों की उत्पत्ति करता है-

शुक्र की विविध स्थितियां	**उत्पन्न होने वाले रोग**
परम नीचस्थ	मानसिक रोग

अतिशत्रु राशिगत	गुल्म,संग्रहिणी, नेत्ररोग
समराशिगत	प्रमेह,गुल्म, नेत्ररोग, गुदारोग
सप्तमस्थ	प्रमेह गुल्मरोग
षष्ठस्थ	शस्त्र से चोट
क्रूरषष्ठ्यंशगत	चोर एवं अग्नि भय

5.4.7- शनि की दशा में उत्पन्न होने वाले रोग-

शनि की दशा में सामान्यतया कृशता, वायु विकार एवं व्याग्रता रहती है। किन्तु जब यह किसी कारणवश रोगकारक हो जाता है, तब वह विविध परिस्थितियों के अनुसार अपनी दशा में विविध रोग उत्पन्न करता है।

शनि की विविध स्थितियां	**उत्पन्न होने वाले रोग**
अतिशत्रुराशिगत	चोर एवं राजा से भय
शत्रुराशिगत	कृशता
समराशिगत	क्षय,वातरोग पित्तरोग
लग्नस्थ	कृशता, सिर दर्द
तृतीयस्थ	मानसिक रोग
पंचमस्थ	जड़ता
षष्ठस्थभाव राशिगत	वातव्याधि,विषभय
सप्तमस्थराशिगत	मूत्रकृच्छ
व्ययगत	चोर,राजा एवं अग्नि से भय

5.4.8- राहु की दशा में उत्पन्न होने वाले रोग-

राहु की दशा के समय में सामान्यतया उदरविकार, मानसिक उद्वेग तथा छोटी-मोटी बीमारियां चलती रहती हैं। इसकी दशा के समय मे शत्रुओं के प्रपंच तथा अभिचारजन्य रोग भी होते है। जब यह किसी कारणवश रोगकारक हो जाता है,तब विविध स्थितियों में निम्नलिखित रोगों को उत्पन्न करता है-

राहु की विविध स्थितियां	**उत्पन्न होने वाले रोग**
नीचस्थ	विषभय

लग्नस्थ	विष,अग्नि एवं शस्त्र से भय
द्वितीयस्थ	मानसिक विचार
चतुर्थ राहु	मनोव्यथा
पंचमस्थ	बुद्धिभ्रम
षष्ठस्थ	प्रमेह,गुल्म,क्षय,पित्तप्रकोप एवं चर्म रोग
सप्तमस्थ	सर्पदंश
अष्टमस्थ	दुर्घटना में मृत्यु
व्ययराशिगत	मानसिक रोग
पापराशिगत	प्रमेह,मूत्रकृच्छ्र,क्षय एवं खांसी
पापदृष्ट राहु	अग्निभय

5.4.9- केतू की दशा में उत्पन्न होने वाले रोग-

केतू की दशा के समय में सामान्यतया भ्रम, भय एवं मन में चंचलता रहती है। किन्तु जब किसी कारणवश यह रोगकारक बन जाता है, तब विविध परिस्थितियों में अपनी दशा में विविध रोगों को उत्पन्न करता है।

केतू की विविध स्थितियां	**उत्पन्न होने वाले रोग**
लग्नगत	ज्वर,अतिसार,प्रमेह,विस्फोट,हैजा
द्वितीयभावगत	मानसिक व्यथा
तृतीयभावगत	मानसिक विकलता
पंचमभावगत	बुद्धिभ्रम
षष्ठभावगत	चोर,अग्नि एवं विष से भय
सप्तमभावगत	मूत्रकृच्छ,मानसिक रोग
अष्टमभावगत	श्वास,खांसी, संग्रहणी,क्षय
दशमभावगत	मन में जड़ता आदि विकार
द्वादशभावगत	नेत्रविकार, नेत्रनाश
पापदृष्ट	ज्वर, अतिसार,प्रमेह,चर्मरोग

5.4.10-अन्तर्दशा द्वारा रोगोत्पत्ति काल का निर्णय-

जातकशास्त्र के आचार्यों का मत है कि प्रत्येक ग्रह अपनी दशा में अपने सम्बन्धी या सधर्मी ग्रह की अन्तर्दशा में अपना फल देता है(सर्वार्थचिन्तामणि अध्याय-16।)

जो ग्रह परस्पर एक दूसरे को देखते हैं अथवा एक दूसरे की राशि में होते हैं या एक साथ किसी भी राशि में होते हैं वे सम्बन्धी कहलाते है तथा जो ग्रह आपस में मिलकर कोई योग बनाते हैं या उसके जैसे प्रभाव का प्रतिनिधित्व करते हैं- वे सधर्मी कहलाते हैं। इस प्रकार हम कह सकते है कि किसी भी रोगकारक ग्रह की दशा में जब-जब उसके सम्बन्धी या सधर्मी ग्रह की अन्तर्दशा आती है, तब-2 मनुष्य के शरीर में रोग पैदा होते हैं। इसके अलावा निम्नलिखित ग्रहों की अन्तर्दशाओं में भी रोग उत्पन्न होते हैं-

षष्ठेश की अन्तर्दशा में।

अष्टमेश की अन्तर्दशा में।

दशाधीश से षष्ठस्थ पापग्रह की अन्तर्दशा में।

दशाधीश से व्ययगत पापग्रह की अन्तर्दशा में।

दशाधीश से अष्टमस्थ की अन्तर्दशा में।

मारकेश ग्रह की अन्तर्दशा में।

अरिष्ट योगकारक ग्रह की अन्तर्दशा में।

अनिष्ट स्थान में स्थित् ग्रहों की अन्तर्दशा में।

पापग्रहों की अन्तर्दशा में।

रोगकारक ग्रहों की अन्तर्दशा में।

अभ्यास प्रश्न-

7. सूर्य की दशा में उत्पन्न होने वाले रोग कौन से हैं?

8. क्षीणचन्द्रमा की दशा में किस रोग की उत्पत्ति होती है ?

9. गुरु ग्रह की दशा में सामान्यतया कौन-2 से रोग होते हैं ?

10. राहु की दशा में अष्टमस्थ राहु का फल लिखिए।

11. "सम्बन्धी ग्रह" कौन होते हैं?

5.5 - ग्रहयोग की रोगों में भूमिका -

ज्योतिषशास्त्र में ग्रहों के परस्पर जुड़ने अर्थात ग्रहों का योग होने पर बनने वाली स्थिति को योग कहते हैं। अर्थात् इष्टानिष्ट स्थान में स्थिति वश जो मनुष्यों को पूर्वार्जित कर्मों के परिणाम से फल मिलता है उसके सूचक योग हैं –

ग्रहाणां स्थितिभेदेन पुरुषान् योज्यन्ति हि।
फलैः कर्मसमुद्भूतैरिति योगाः प्रकीर्तिताः।। (प्रश्नमार्ग 9/48 द्रष्टव्य भा.ज्यो. में रोग विचार पृ.226)

होरा शास्त्र में सूर्य आदि ग्रहों को मनुष्य के शरीर के अंग,धातु एवं दोषों का प्रतिनिधि माना गया है। जब कोई ग्रह अनिष्ट स्थानादि में स्थित होने के कारण अनिष्ट प्रभाव का द्योतक बन जाता है, तो वह शरीर के जिस अंग, धातु यृ दोष का प्रतिनिधित्व करता हे, उसमे विकार की सूचना देता है। किन्तु जब कोई ग्रह इष्ट स्थानादि में स्थित होने के कारण इष्टप्रभावयुक्त हो जाता है, तो वह शरीर के जिन अङ्गों, धातु व दोषों का प्रतिनिधित्त्व करता है उसमे समता, पुष्टि या आरोग्यता को सूचित करता है। यही कारण है कि शास्त्र में सभी प्रकार के रोगों का विचार ग्रहयोगों द्वारा किया जाता है (भा.ज्यो.में रोगविचार पृ.226)।

5.5.1 - ग्रह-राशि एवं दशा द्वारा आयुर्दाय योग (ज्योतिषशास्त्र में रोग विचार पृ.165-166)-

जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जीवन काल को आयु कहते है। ज्योतिषशास्त्र के मनीषियों ने जन्मान्तर में किए गए कर्मों को भोगने के लिए प्राणी को प्राप्त जीवन काल को उसकी आयु कहा है। यह आयु प्रारब्ध आदि कर्म के प्रभाव से दीर्घ, मध्य या अल्प होती है। योगायु का निर्णय मुख्यतः निम्न छः प्रकार के योगों से किया जाता है-

सद्योरिष्ट योग
अरिष्ट योग
अल्पायु योग

मध्यमायु योग

दीर्घायु योग

अमितायु योग

सद्योरिष्ट योगों में अधिकतम एक वर्ष, अरिष्ट योग में 2 वर्ष से 12 वर्ष अल्पायु में अधिकतम 23 वर्ष, मध्यमायु में 70 वर्ष, दीर्घायु योग में अधिकतम 100 वर्ष एवं अमितायु में 100 से अधिक वर्ष तक मानव जीवन जीता है। इन छः प्रकार के योगों में सद्योरिष्ट एवं अरिष्ट होने पर ग्रहदशा का विचार प्रायः बहुत कम किया जाता है। इसीलिए आचार्यों ने 12 वर्ष के बाद ही आयुर्दाय का निर्णय करने पर बल दिया है।

आयु योग	**आयु वर्ष**
सद्योरिष्ट	अधिकतम 1 वर्ष
अरिष्ट	2-12 वर्ष
अल्पायु	23 वर्ष (अधिकतम)
मध्यमायु	70 वर्ष (अधिकतम)
दीर्घायु	100 वर्ष (अधिकतम)
अमितायु	100 वर्ष से अधिक

5.5.2- मृत्युदायक दशान्तर्दशाएं-

महर्षि पाराशर ने जन्म कुण्डली में तृतीय एवं अष्टम स्थान को आयु का स्थान माना है तथा इन दोनों के व्यय स्थानों अर्थात् द्वितीय एवं सप्तम स्थान को मारक स्थान कहा है। इन दोनों मारक स्थानों में भी द्वितीय स्थान अधिक बलवान मारक होता है(बृ. पा. हो.अ.44 श्लो.2-3)।

आयुर्दाय निर्णय के पश्चात् आयुर्दाय समाप्त होने की कालावधि में निम्नलिखित ग्रहो की दशा एवं अन्तर्दशा होने पर मृत्य की सम्भावना प्रबल होती है (ज्योतिषशास्त्र मे रोग विचार पृ191-192) -

द्वितीयेश या सप्तमेश की दशान्तर्दशा होने पर

द्वितीय या सप्तम सथान में स्थित पाप ग्रहों का दशा वं अन्तर्दशा में

द्वितीयेश या सप्तमेश के साथ स्थित पापग्रह की दशा एवं अन्तर्दशा में

यदि आयुर्दाय की कालावधि या समाप्ति के आस-पास उक्त ग्रहों की दशान्तर्दशा न हो तो निम्नलिखित प्रकार से ग्रहों की दशान्तर्दशा में मृत्यु जाननी चाहिए-

उक्त व्ययेश से सम्बन्ध रखने वाले किसी शुभ ग्रह की दशान्तर्दशा में

अष्टमेश की दशान्तर्दशा में

मात्र पाप ग्रह की दशान्तर्दशा मे

5.5.3 - मृत्युदायक अन्य योग-

मृत्यु के कारणों का भली भांति विचार करने के लिए ज्योतिष के आचार्यों ने मृत्युदायक रोगों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। इन योगों मे से मृत्युदायक रोगों के कुछ प्रमुख योग इस प्रकार है (बृहज्जातक अ. 25 श्लोक 3-7)-

1. जन्मकुण्डली में शनि कर्क में तथा चन्द्रमा मकर में हो तो जलोदर रोग से मृत्यु होती है।
2. द्वितीय स्थान में शनि, चतुर्थ मे चन्द्रमा एवं दशम में मंगल हो तो शरीर में कीड़े पड़ने से मृत्यु होती है।
3. क्षीण चन्द्रमा पर बलवान् मंगल की दृष्टि हो तथा अष्टम भाव मे शनि हो तो गुदा रोग कृमिरोग या दाह से मृत्यु होती है।
4. अष्टम भाव में स्थित क्षीण चन्द्रमा को शनि देखता हो तो गुदारोग, नेत्ररोग या शस्त्र के घाव से मृत्यु होती है।
5. दो पापग्रहों के मध्य में स्थित चन्द्रमा कन्या राशि में हो तो रक्तविकार या शोष रोग से मृत्यु होती है (जातकपारिजात अ.5 श्लो.78)।

अभ्यास प्रश्न-

12. आयु की परिभाषा क्या है ?
13. अल्पायु में कितने वर्ष निर्धारित किए गए है ?
14. मारक स्थान कौन कौन से हैं ?
15. आयुर्दाय की समाप्ति पर किन ग्रहों की दशान्तर्दशा में मृत्यु की सम्भावना होती है ?
16. जलोदर रोग से मृत्युकारक योग की विवेचना कीजिए ?
17. दाह से मृत्यु कारक योगों को लिखिए?

5.5.4 - रोगोपचार हेतु औषधि विमर्श

किस रोग के उपचार हेतु कौन सी औषधि का सेवन करना चाहिए ? यह मुख्य रूप से आयुर्वेद शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। ज्योतिषशास्त्र में इसका अधिकारिक विवेचन नही है, किन्तु फलित ज्योतिष के ग्रन्थों में यत्र तत्र कतिपय प्रमुख रोगों की औषधियों की चर्चा की गई है। यह चर्चा कई स्थानों पर साक्षात् तथा अन्य स्थानों पर दृष्टान्त रूप में की गई है। प्रश्नमार्ग में उन्माद एवं अपस्मार इन दो रोगों के कारण, लक्षण एवं चिकित्सा का विचार इस प्रकार किया गया है-

विषमाशुचि भोजनोपवासैर्भय वैराग्यमुधाक्रुधाभिचारैः ।
गुरुपावकदेवतापवादैस्त्रिविधोन्माद उदाहृतस्त्रिदोषैः ।।
हर्षेच्छाभयशोकादेर्विरूद्धाशुचिभोजनात् ।
गुरुदेवादिकोपाच्च पंचोन्मादाः भवन्त्यथ

अर्थात् विषम भोजन, अपवित्र भोजन, उपवास, भय, वैराग्य, अकारण क्रोध अभिचार गुरुनिन्दा, यज्ञादि मे त्रुटि एवं देवनिन्दा इन दस (10) दोषों से वात, पित्त एवं कफजन्य उन्माद होता है। सामान्यतया यह रोग हर्ष, इच्छा, महत्वकांक्षा, भय एवं शोक की प्रबलता से स्वास्थ्य के प्रतिकूल या अपथ्य वस्तु खाने से तथा गुरु एवं देवता के कोप से होता है।(उद्धृत ज्योतिषशास्त्र मे रोग विचार पृ 215)
उन्माद 5 प्रकार का होता है- 1. वातजन्य 2. पित्तजन्य 3. कफजन्य 4. सन्निपातजन्य 5. आगन्तुक।

वातोन्माद के लक्षण -

हसनास्फोटनाकृन्दगीतनर्तनरोदनम् ।।
अस्थानमङ्ग विक्षेपस्ताम्रा मृदुकृशा तनुः ।
जीर्णे बलञ्च वाग्वह्वी वातोन्मादस्य लक्षणम् ।।

हँसना, चिल्लाना, बिलखना, गाना, नाचना, रोना, एक जगह न रुकना, हाथ पैर आदि अंगो को फेकना-पटकना, लाल एवं कमजोर शरीर होना, कमजोर होने पर भी बल होना या अधिक बड़-बड़ाना वातजन्य उन्माद का लक्षण है।

पित्तोन्माद -

संरम्भामर्षवैदग्ध्यमभिद्रवणतर्जनम् ।
छायाशातान्नतोयेच्छा रोषः पीतोष्णदहता ।।

अर्थात् व्याकुलता क्रोध, विदग्धता, द्रवीभूत होना, जोर-जोर से बोलना या लड़ना, छाया, ठण्डी वस्तु या पानी, की इच्छा, अधिक रोष तथा शरीर का पीला पड़ना एवं गर्म होना यह पित्त जन्य उन्माद का लक्षण है।

कफजन्य उन्माद -

नारी विविक्तप्रियता निद्रारोयौ मनाग्वचः ।
लाला छर्दिबल मुक्तौ नरवादिषु च शुवलता ।।

अर्थात् स्त्रियों से बोलने की इच्छा, निद्रा में बोलना, साधारणतया कम बोलना, मुँह से लार या झाग निकलना, उल्टी होना, अधिक खाना, नाखुन व पुतली का सफेद होना कफजन्य उन्माद का लक्षण है[41] ।

सन्निपात जन्य उन्माद -

उक्त लक्षणों के मिश्रण वाला या उनसे भिन्न लक्षण वाला सन्निपातजन्य उन्माद होता है।

आगन्तुक उन्माद -

देवता एवं राक्षस आदि के कोप से उत्पन्न आगन्तुक उन्माद् होता है।

उन्माद उपचार (ज्योतिषशास्त्र मे रोग विचार पृ 216-217) **-**

आचार्य कल्याण वर्मा ने अरिष्ट भंगो का विवेचन करते हुए दृष्टान्त अलंकार द्वारा स्पष्ट किया है कि जैसे कल्याणघृत उन्माद को नष्ट कर देता है। वैसे ही चन्द्रमा से 6,7 एवं 8वें स्थान में स्थित शुभ ग्रह अरिष्टादि का नाश करते है।

सप्तमाष्टषष्ठस्थाः शशिनः सौम्या हरन्त्यरिष्टफलम्।
पापैरमित्रचाराः कल्याणघृतं यथोन्मादम् ।।

इसी मत में आचार्य चरक ने भी कहा है कि।

कल्याणकं प्रयुज्जीत महद्वा चैतसं घृतम् ।
भूतोपहतचित्तानां गद्गदानामचेतसाम् ।।

अपस्मार (मिरगी) के लिए सूंघने व सेवन युक्त औषधियों का वर्णन प्राप्त होता है। सैन्धव,वृश्चिकाली, कुष्ठ, कणा एवं भाङ्गर्णि इन औषधियों का बारीक चूर्ण बनाकर नाक से सुंघाना मिरगी के भीषण रोग को दूर करने की प्रशस्त औषधि है। ब्राह्मी के रस में वचा, शंखपुष्पी, आंवले का रस, एवं मधुक

[41] ज्यो217.में रोग विचार पृ.शा.

मिलाकर बनाए गए घृत का तथा वृषमूत्र में मधुक, सिद्धार्थ एवं हिंगु मिलाकर बनाए गए घृत का सेवन अपस्मार को दूर करता है। विविध रोगोपचार हेतु औषधियां निम्नलिखित प्रकार से कहे गए हैं -

पित्तरोग	- वमन
महातिसार	-जायफल के छिलके की क्वाथ
उन्माद	- कल्याणघृत
कर्णरोग	- लवण-स्नुति चूर्ण
गुदारोग	- तक्र का सेवन
सफेद दाग	-उष्णा एवं बिदल से बना अंजन
चातुर्थिक ज्वर	- अगस्त्य रस से बना नस्य

5.5.5 – रोगोपचार हेतु दान -

जैसा कि आप जानते ही हैं कि अशुभ कर्मों के प्रभाव से रोग उत्पन्न होते है। अतः औषधि, जप दान होम एवं पूजा द्वारा रोगों की निवृत्ति ज्योतिष शास्त्र में कही गई है। कुण्डली में जो ग्रह रोग कारक हो उस ग्रह से सम्बन्धित वस्तुओं का दान करने से रोगों से मुक्ति मिलती है। ध्यातव्य है कि दान का कालादि ज्योतिषीय नियमों के आधार पर ही होना चाहिए। ग्रहों के अशुभ प्रभाव व रोगनिवृत्ति हेतु ग्रहों से सम्बन्धित निम्न वस्तुओं का दान करना चाहिए (ज्योतिषशास्त्र मे रोग विचार पृ 219)-

1. **सूर्य-** गेहूँ, गुड़, ताम्र, स्वर्ण रक्तचन्दन, माणिक्य, लालवस्त्र, अलंकार सहित सवत्सा गौ।
2. **चन्द्र-** बांस के पात्र में चावल, घी से भरा कुम्भ, मोती, चाँदी, श्वेत वस्त्र, कपूर, वृषभ, दही व शंख।
3. **भौम-** गेहूँ, गुड़, ताम्र, स्वर्ण, मूँगा, रक्तबैल, लालवस्त्र, रक्तचन्दन, मसूर एवं लाल कनेर के फूल।
4. **बुध-** नीलावस्त्र, हरापुष्प, हाथी दाँत, सोना, दासी, मूँग, घृतपूर्ण कांस्यपात्र, भेड़ एवं पन्ना।
5. **गुरु-** हल्दी, पीलावस्त्र, शर्करा, चने की दाल, सोना, लवण, पुखराज, घोड़ा एवं पीले रंग के फूल।
6. **शुक्र-** सोना, चित्र-विचित्र वर्ण वस्त्र, चाँदी, गौ, श्वेत घोड़ा, हीरा, घृत, चावल, कपूर एवं श्वेत पुष्प।
7. **शनि-** तिल, कम्बल, कालावस्त्र, कुल्थी, तेल, भैंस,नीलन, उड़द, कृष्ण गौ एवं काले फूल।
8. **राहु-** तिल, कम्बल, कालावस्त्र, लोहा, तेल, गोमेद, घोड़ा, चाँदी, ऊन एवं भेड़।
9. **केतु-** तिल, कम्बल, तैल, शस्त्र, वैदूर्य, कस्तूरी, नीले फूल, ऊन, बकरा एवं नमक।

5.5.6 - रोगोपचार हेतु औषधिस्नान -

रोग पीड़ा से निवृत्ति हेतु औषधिस्नान भी एक प्रमुख उपाय माना गया है। लाजवन्ती, कूट, वरियार, कांगनी, मोया, सरसों हल्दी, देवदारु, शरफोंका तथा लौंग को तीर्थोदक में मिलाकर स्नान करने से रोग-पीड़ा नष्ट हो जाती है।

सूर्यादि ग्रहों से सम्बन्धित औषधियां-

सूर्य- मेनशिल, इलायची, देवदारु, खश, केशर, मुलेठी, कनेर के फूल।

चन्द्र- पंचगन्ध, गजमद, शंख, सीप,श्वेतचन्दन एवं स्फटिक।

मंगल- विल्वछाल, श्वेत चन्दन, धिमनी, रक्तपुष्प, सिगंरक, मालकांगनी,मौलसिरी।

बुध- गोबर, मधु, अक्षत, फल, स्वर्ण, मोती एवं गोरोचन।

गुरु- मालती पुष्प, पीलीसरसों, गुलहटी, मधु एवं मालती।

शुक्र- इलायची, मैनसिल, सुवृक्षमूल एवं केशर।

शनि- काले तिल, सुरमा,लोहबान, धिमनी, सौंफ, कस्तूरी।

राहु- लोहबान, तिलपत्र, मुत्थरा, हाथी दांत एवं कस्तूरी।

केतू- लोहबान, तिलपत्र, मुत्थरा, हाथीदांत एवं कस्तूरी।

अभ्यास प्रश्न-

18. उन्माद रोग कितने प्रकार का होता है ?

19. पित्तजन्य उन्माद का लक्षण बताइए-

20. अपस्मार रोग के उपचार नें प्रयुक्त होने वाली औषधियाँ कौन सी है ?

21. मंगल एवं गुरु ग्रह से सम्बन्धित दान वस्तुएं बताइए।

22. मंगल ग्रह जन्य रोग शान्ति हेतु स्नानीय औषधियों के नाम बताइए।

5.6 सारांश

प्रस्तुत पाठ में रोग निवृत्ति हेतु विभिन्न ज्योतिषीय पहलुओं में से कतिपय महत्पूर्ण आयामों का वर्णन किया गया है। पाठ्यांश में ग्रहों से बनने वाले योगां द्वारा रोग परिज्ञान के साथ-साथ तत्तद् ग्रह की शान्ति एवं रोग निवारण हेतु औषधिप्रयोग, स्नानीय वस्तुओं एवं दानादि द्वारा रोगों के उपचार पर प्रकाश डाला गया है। ग्रहों से उत्पन्न होने वाले रोगों का परिज्ञान व उनका समसामयिक

ज्योतिषीय उपचार का समावेश प्रस्तुत पाठ में किया गया है। ज्योतिषशास्त्र में रोग के आरम्भ में ही उचित काल का अन्वेषण कर उसमें औषधि- दान- स्नान पर बल दिया गया है। चन्द्रभुक्त नक्षत्रों के आधार पर उत्पन्न रोग के समय का भी विश्लेषण किया गया है।

रोगों की उत्पत्ति का प्रमुख कारण एकमत से आचार्यों द्वारा पूर्वार्जित कर्मों को माना है। जिस प्रकार अन्धेरे कमरे में रखी वस्तुओं को देख पाना सम्भव नही होता, किन्तु उसमें प्रवेश करने पर अवरोध अवश्य उत्पन्न होता है। उसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र मानवजीवन में आने वाले अवरोधों रोग-दुर्घटना आदि का सम्भावित ज्ञान करवाता है । साथ ही भविष्य में होने वाले अनिष्टों की सूचना व रोगोपचार में सहायक होते हुए जनसामान्य के लिए पथप्रदर्शक का कार्य करता है। आशा है कि प्रस्तुत पाठ के आधार पर रोगोपचार में ज्योतिष का योगदान को आप भली-भांति समझ गए होंगे।

5.8- शब्दावली-

सधर्मी	-	एक जैसे प्रभाव वाला
दशाधीश	-	दशा का स्वामी ग्रह
दृष्टान्त	-	उदाहरण
निवृत्ति	-	निवारण
पावक	-	अग्नि
लाला	-	लार
अपस्मार-		मिरगी
अवरोध	-	रुकावट
दिग्दर्शक	-	दिशा को दिखाने वाला अथवा बताने वाला
चराचर	-	जड़ व चेतन, संसार
बुभुक्षा	-	भूख
ध्येय	-	उद्देश्य
आगन्तुक	-	आने वाला, अतिथि
निवारणोपाय	-	निवारण के उपाय
पापर्क्ष	-	पापनक्षत्र या राशि
पापखेटयुक्	-	पाप ग्रह से युक्त

पापेक्षितम्	-	पापग्रह से दृष्ट
रन्ध्रे	-	अष्टम भाव में
व्यये	-	बारहवे भाव में
नगेऽष्टमे	-	सातवे आठवें में
लग्नेऽरिभे	-	लग्न में छठे भाव में
तनौ	-	लग्न में
अर्के	-	सूर्य में
कुजे	-	मंगल में
अजेऽलिनवांशगे -		मेष वृश्चिक के नवांश में गया हुआ
मिथ्या	-	असत्य, झूठा या गलत
सद्वृत्ति	-	अच्छी आजीविका
परस्वहरण	-	दूसरे के धन का हरण
व्याधि	-	रोग
संचय	-	एकत्रित करना, इकट्ठा करना
अविकृत-		विकार रहित, स्वच्छ
वाग्वैकल्य	-	बोलने में रुकावट, हकलाहट
कोपाधिक्य	-	अधिक गुस्सा आना
कृशता	-	कमजोरी
सद्योरिष्ट -		तुरन्त अरिष्ट या अशुभ होना
तक्र	-	छांछ, मट्ठा

5.8- अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. रोगी की मृत्यु की सम्भावना
2. हमारे शरीर एवं मन में उत्पन्न होने वाले विकार, जिनसे हमे किसी भी प्रकार का दुःख मिलता है, रोग कहलाते है।
3. उक्त पद्यांश से तात्पर्य यह है कि रोगों के साध्यत्व या असाध्यत्व लक्षणों के फल का विवेचन करने से पूर्व जातक की आयु का शास्त्रोक्त विधि से निर्णय कर लेना चाहिए।
4. दर्शन शास्त्र में संचित, प्रारब्ध व क्रियमाण तीन प्रकार के कर्मों का विवेचन किया जाता है।

5. ज्योतिषशास्त्र द्वारा औषधि ग्रहण, संचय एवं निर्माणादि के शुद्धकाल का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।
6. आयुर्वेद में जिन रोगों को कर्मजन्य मानकर असाध्य कह दिया गया है। तथा जिन रोगों के निदान एवं चिकित्सा विधि पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला, उन कर्मजन्य रोगों के होने की सम्भावना, उनके प्रारम्भ एवं समाप्ति के काल तथा उनकी चिकित्सा विधि का ज्योतिशास्त्र में वर्णन मिलता है।
7. सूर्य की दशा में सामान्यतया ज्वर, पित्तप्रकोप, सिर दर्द मनोविकार विषभय जैसे रोगों की उत्पपत्ति होती है।
8. चन्द्र की महादशा में क्षीण चन्द्र होने पर उन्माद रोग की उत्पत्ति होती है।
9. गुरू ग्रह की दशा में सामान्यतया गुल्म, उदर विकार एव स्थूलतादि रोगों की उत्पत्ति होती है।
10. राहु की महादशा में अष्टमस्थ राहु होने पर दुर्घटना में मृत्यु की सम्भावना बनी रहती है।
11. जो ग्रह परस्पर एक दूसरे को देखते हैं या एक दूसरे की राशि में रहते हैं अथवा एकसाथ किसी भी राशि में रहते हैं वे ग्रह सम्बन्धी कहलाते हैं।
12. ज्योतिषशास्त्र की मान्यतानुसार जन्मान्तरों में किए गए कर्मों का फल भोगने के लिए प्राणी को इस जीवन में जो जन्म से मृत्यु पर्यन्त कालखण्ड प्राप्त है वह आयु कहलाती है।
13. अल्पायु में अधिकतम 23 वर्ष अवधि निर्धारित है।
14. द्वितीय एवं सप्तम
15. आयुर्दाय की समाप्ति होने पर यदि द्वितीयेश या सप्तमेश की अन्तर्दशा होने पर, द्वितीय या सप्तम स्थान में स्थित पाप ग्रहों की दशान्तर्दशा या द्वितीयेश, सप्तमेश के साथ स्थित पापग्रह की दशान्तर्दशा में मृत्यु की सम्भावना होती है।
16. जन्मकुण्डली में शनि कर्क में तथा चन्द्र मकर में हो तो जलोदर रोग से मृत्यु सम्भावित होती है।
17. क्षीर्णचन्द्र पर बलवान मंगल की दृष्टि हो तथा अष्टम में शनि हो तो दाह से मृत्यु होती है।
18. उन्मादरोग पाँच प्रकार के होते हैं- 1. वातजन्य 2. पित्तजन्य 3. कफजन्य 4. सन्निपातजन्य 5. आगन्तुक।
19. व्याकुलता क्रोध, विदग्धता, द्रवीभूतहोना, जोर-2 से बोलना या लड़ना, छाया, ठण्डी वस्तु या पानी की इच्छा, अधिक रोष तथा शरीर का पीला पड़ना एवं गर्म होना यह पित्त जन्य उन्माद का लक्षण है।

20. अपस्मार रोग के उपचार हेतु सैन्धव,वृश्चिकाली, कुष्ठ, कणा एवं भाङ्गर्णि मिरगी के भीषण रोग को दूर करने की प्रशस्त औषधि है। ब्राह्मी के रस में वचा, शंखपुष्पी, आंवले का रस एवं मधुक मिलाकर बनाए गए घृत का तथा वृषमूत्र में मधुक, सिद्धार्थ एवं हिंगु मिलाकर बनाए गए घृत का सेवन अपस्मार को दूर करता है।
21. मंगल ग्रह सम्बन्धी दान हेतु गेहूँ, गुड़, ताम्र, स्वर्ण, मूँगा, रक्त बैल, लालवस्त्र, रक्तचन्दन, मसूर एवं लाल कनेर के फूल व गुरु ग्रह के लिए हल्दी पीला वस्त्र, शर्करा, चने की दाल, सोना, लवण, पुखराज, घोड़ा एवं पीले रंग के फूल दान किए जाते है।
22. मंगल जन्य रोग निवृत्ति हेतु विल्वछाल, श्वेत चन्दन, धिमनी, श्वेतपुष्प, सिगंरक, मालकांगनी,मौलसिरी। औषधियों से स्नान किया जाता है।

5.9-सन्दर्भ ग्रन्थसूची-

1. ज्योतिषशास्त्र में रोग विचार - डॉ शुकदेव चतुर्वेदी, मोतीलाल बनारसिदास दिल्ली – 2012
2. वृहत्पराशर होराशास्त्र - मा. खेलाड़ी लाल संकटाप्रसाद, वाराणसी, सन्- 1998
3. प्रश्नमार्ग भाग 1 व 2 - शुकदेव चतुर्वेदी रंजन पब्लिकेशन, दिल्ली 1978-79

5.10 निबन्धात्मक प्रश्न-

1. रोगनिदान में ज्योतिष की भूमिक स्पष्ट कीजिए।
2. आयुर्वेद एवं ज्योतिष के परस्पर सम्बन्ध को बताते हुए आयुर्वेद में ज्योतिष की उपकारिता स्पष्ट करें।
3. सूर्य की दशा में उत्पन्न होने वाले रोगों का वर्णन करें।
4. मंगल की दशा में उत्पन्न होने वाले रोगों का वर्णन करें।
5. शनि की दशा में उत्पन्न होने वाले रोगों का वर्णन करें।
6. अन्तर्दशा द्वारा रोगोत्पत्ति का ज्ञान किस प्रकार होता है? स्पष्ट कीजिए।
7. ग्रहयोग की रोगों में भूमिका स्पष्ट कीजिए।
8. रोगोपचार हेतु औषधिविमर्श एवं औषधिस्नान पर प्रकाश डालिए।

खण्ड – 4

ज्योतिष शास्त्र एवं भौतिक जगत

इकाई – 1 सृष्टि उत्पत्ति के सिद्धान्त

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 सृष्टि का परिचय
1.4 सृष्टि के प्राचीन सिद्धान्त
1.4.1 वैदिक संहिताओं के अनुसार सृष्टि सिद्धान्त
1.4.2 उपनिषद एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार सृष्टि सिद्धान्त
1.4.3 सृष्टि के ज्योतिषीय सिद्धान्त
1.4.4 सूर्यसिद्धान्तीय सृष्टि सिद्धान्त
1.4.5 अभ्यास प्रश्न – 1
1.4.6 सिद्धान्त शिरोमणि के अनुसार सृष्टि सिद्धान्त
1.4.7 अभ्यास प्रश्न – 2
1.5 सृष्टि जगत् के आधुनिक सिद्धान्त
1.6 सारांश
1.7 शब्दावली
1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई ज्योतिष विभाग के अन्तर्गत संचालित एम.ए. ज्योतिष पाठ्यक्रम के MAJY-505 द्वितीय सेमेस्टर के प्रथम पत्र के चतुर्थ खण्ड से सम्बन्धित प्रथम इकाई है। इसके अन्तर्गत हम सृष्टि की उत्पत्ति के ज्योतिषीय एवं अन्य भारतीय सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करेंगें।

यहाँ सृष्टि जगत् के सिद्धान्त से तात्पर्य यह है कि इस पृथ्वी जिस पर हम निवास करते हैं यह ब्रह्माण्ड के एक सौरमण्डल के अन्तर्गत एक कण मात्र है। इस प्रकार के तथा इससे छोटे और बड़े अनेक पिण्ड इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत स्थित है। अतः इस इकाई के अन्तर्गत हमें यह जानना है कि इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान सभी ग्रह–नक्षत्रादि पिण्डों तथा इस पृथिवी पर स्थित सकल चराचरों जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी, पर्वत, नदी, वृक्ष, आदि की उत्पत्ति कैसे और कब हुई। इनकी उत्पत्ति के दार्शनिक एवं वैज्ञानिक कौन से कारण हैं। चूँकि सृष्टि ही इस जगत् का मूलाधार है। अतः आप इस इकाई के अन्तर्गत सृष्टि सिद्धान्त से जुड़े सभी विषयों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे तथा इस सृष्टि के वास्तविक स्वरूप से अवगत होंगे।

1.2 उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन से आप निम्नलिखित विषयों को जान सकेंगे।

1. सृष्टि क्या है?
2. सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई?
3. सृष्टि कितनी प्राचीन है?
4. सृष्टि की भारतीय अवधारणाएँ क्या है?
5. सृष्टि विषयक आधुनिक मत क्या है?
6. सृष्टि के मूल तत्त्व।

1.3 सृष्टि का परिचय

इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सहज रूप में आपके या हमारे सामने उपस्थित

ग्रह–नक्षत्रादि पिण्ड, तारे या अन्य पिण्ड, पंचभूत जैसे पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश एवं वायु, पेड़–पौधे, वनस्पतियाँ, नदी, समुद्र, पर्वत, पशु, पक्षी, मनुष्य, कीट, पतंगादि सभी चराचरों की उत्पत्ति को ही सृष्टि के नाम से जाना जाता है। यह सृष्टि अपने अन्दर अनेक विषमताओं एवं विविधताओं को धारण किए हुए है। इसीलिए आप जैसे–जैसे अपने जीवन पथ पर बढ़ते हुए एक स्थान से दूसरे की यात्रा करते हैं वैसे–वैसे सृष्टि की ये विशिष्टताएँ

स्वयं ही आपके समक्ष उपस्थित होकर आपको अपना आभास कराती रहती हैं। यह परिवर्त्तन सबके लिए एक समान ही होता है परन्तु सभी लोग अपनी बुद्धि, आवश्यकता एवं स्थिति के अनुसार इसका पृथक्–पृथक् आभास करते हैं। जहाँ जनसामान्य के लिए यह परिवर्त्तन एक रोमांच एवं कुतूहल का विषय होता है वहीं वैज्ञानिकों एवं चिन्तकों के लिए अन्वेषण एवं चिन्तन का।

1.4 सृष्टि के प्राचीन सिद्धान्त

इस सृष्टि की उत्पत्ति का सिद्धान्त अतीव प्राचीन काल से ही महान अतीत के गर्भ में व्यवस्थित है। इसकी उत्पत्ति काल से ही गवेषकों ने इसके रहस्य को जानने के लिए अनेक अथक प्रयास किए कितने ही सिद्धान्त बनें परन्तु कालक्रम से वे सभी स्थूल होते गए तथा अनेक परवर्ति अन्वेषकों नें पूर्ववर्त्ति सिद्धान्तों को खण्डित कर नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की परन्तु अब तक कोई भी ऐसा सर्वमान्य सृष्टि विषयक सिद्धान्त स्थापित नहीं हो सका जिस पर सर्वसम्मति या मतैक्य हो। सभी वैज्ञानिक एवं चिन्तक अपनी–अपनी परम्परा एवं मेधा से आज भी इसके अन्वेषण में संलग्न है।

1.4.1 वैदिक संहिताओं के अनुसार सृष्टि सिद्धान्त–

भारतीय चिन्तन परम्परा में भी सृष्टि विषयक विचार अति प्राचीन काल से दृष्टिगत होता है। क्यों कि हमारी भारतीय मान्यता के अनुसार समस्त ज्ञान–विज्ञान के मूल स्रोत रूप में विद्यमान विश्व के प्राचीनतम साहित्य वेदों में तद् विषयक आधारभूत सिद्धान्त वर्णित हैं। वेदों की संहिताओं की मान्यता के अनुसार सृष्ट्यादि में कोई आदि शक्ति सत् स्वरूप में उत्पन्न होकर पृथिवी आदि सकल चराचरों की सृष्टि की, परन्तु इस विषय का विस्तृत ज्ञान यहाँ प्राप्त नहीं होता इसीलिए ऋग्वेद संहिता में ''**इह ब्रवीत य उ तच्चिकेतत्**'' के द्वारा यह वर्णित है कि सृष्टि की उत्पत्ति के सिद्धान्त को यदि कोई जानता हो तो आकर कहे।

1.4.2 उपनिषद् एवं ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार सृष्टि सिद्धान्त–

इस प्रकार आपने जाना कि वैदिक संहिताओं में सूत्र रूप में ही सृष्टि की उत्पत्ति के सूक्ष्म सिद्धान्त वर्णित हैं। अब ब्राह्मण एवं उपनिषद् ग्रन्थों के आधार पर सृष्टि सिद्धान्त को समझेंगे।

वास्तविक रूप में सृष्टि सिद्धान्त एक कठिनतम विषय है इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तर्गत इसकी उपस्थिति मूल रूप में होते हुए भी तैत्तरीय ब्राह्मण में वर्णित है कि ''**सृष्टिविषयकं वास्तविकं कारणज्ञानमसम्भवमिति। तं न कोऽपि जानाति।**'' अर्थात् सृष्टि विषयक वास्तविक कारण का ज्ञान असम्भव है। उसे कोई भी वास्तविक रूप में नहीं

जानता। परन्तु अन्य कुछ ब्राह्मण ग्रन्थों में इसकी विस्तृत विवेचना भी प्राप्त होती है। इसके अन्तर्गत स्पष्टतया वर्णित है कि ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत् .... तत आपः सम्भवति, तासु हिण्यगर्भाख्यं जगदुत्पत्तिबीजं सौवर्णमण्डं प्लवते, तस्माच्च जगदुत्पत्ति– निपुणाशक्तिः आविर्भूय स्वेच्छया विश्वमिदं सृजति'' अर्थात् सर्वप्रथम सत् तत्त्व अनन्तर इस प्रक्रिया के अन्तर्गत जल की उत्पत्ति हुई, इस जल के अन्दर हिरण्यगर्भ नामक स्वर्णाण्ड से विश्वोत्पत्ति के बीजरूप में विश्वोत्पादिका शक्ति उत्पन्न होकर स्वेच्छया से विश्व की रचना करती है। उपनिषद् ग्रन्थों के अन्तर्गत तैत्तरियोपनिषद् के अनुसार सृष्टिक्रम में विश्वोत्पादिका शक्ति के द्वारा सर्वप्रथम आकाश की उत्पत्ति हुई, इसके बाद आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न तथा अन्न द्वारा पुरुष की उत्पत्ति हुई। न केवल इन्हीं ग्रन्थों में अपितु अन्य ब्राह्मण, उपनिषद्, अरण्यक आदि वैदिक संहिताओं से सम्बद्ध ग्रन्थों में भी अनेक स्थलों पर एतद् विषय वर्णन मिलता है। इसी क्रम में तैत्तरीय ब्राह्मण में वर्णन मिलता है कि पूर्ववर्त्ति सृष्टि के प्रलय के बाद तथा उत्तरवर्त्ती सृष्टि की संरचना के पूर्व मध्यवर्त्ति काल में सत्–असत् कुछ भी नहीं था। आकाश, जल, मृत्यु, अमृत तथा दिन–रात्रि आदि के कारक कुछ भी नहीं थे। इस समय में केवल परमब्रह्म रूपी शक्ति ही विद्यमान थी, जिसके मन में सृष्टि की ईच्छा जागृत हुई और उसने पूर्ववर्त्ति सृष्टि के अनुरूप ही इस वर्त्तमान सृष्टि की रचना की। वैदिक संहिताओं के **''सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्''** आदि वाक्य भी इस मत की पुष्टि करते हैं। इसके अनन्तर षड्वेदांगों के अन्तर्गत दर्शनशास्त्रों में तथा अन्यान्य संस्कृत वाङ्मय के ग्रन्थों में भी इससे सम्बन्धित अनेक प्रमाण वचन परम्परानुसार उपलब्ध होते हैं।

1.4.3 सृष्टि के ज्योतिषीय सिद्धान्त–

अब तक आपने वैदिक साहित्यों में उपलब्ध सृष्टि सिद्धान्त को जाना अब आप ज्योतिष के ग्रन्थों में उपलब्ध सृष्टि सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करेंगे। ज्योतिष भी वेदांग होने के कारण प्रायः वेद विहित सिद्धान्तों का ही अनुगमन करता है परन्तु अपनी विषयगत वैशिष्ट्य के कारण विषयों का निरूपण यहाँ स्पष्टरूप में प्रत्यक्ष, आगम एवं युक्ति प्रमाण के आधार पर करता है। क्यों कि प्रमाण के सन्दर्भ में आचार्य कमलाकर भट्ट ने स्पष्टतया निर्देश करते हुए लिखा है कि–

प्रत्यक्षागमयुक्तिशालितदिदं शास्त्रं विहायान्यथा।
यत् कुर्वन्ति नराधमास्तु सदसत् वेदोक्ति शून्या भृशम्।।

अतः इन प्रमाण सिद्धान्तों का अनुपालन करते हुए किंचित् विशिष्टता पूर्वक यहाँ विषयों का प्रतिपादन किया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में मुख्यतया दो सिद्धान्त ज्योतिषशास्त्र में दिखाई पड़ते हैं। जिनमें पहला सूर्यसिद्धान्त का तथा दूसरा सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ का। अब हम यहाँ इन दोनों मतों को अलग–अलग जानेगें।

1.4.4 सूर्यसिद्धान्तीय सृष्टि सिद्धान्त–

भारतीय मान्यता के अनुसार सूर्यसिद्धान्त स्वयं भगवान सूर्य द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त स्कन्ध का एक सुविख्यात, प्रामाणिक एवं अपौरुषेय ग्रन्थ है। इसमें ज्योतिष के समस्त सैद्धान्तिक विषयों का वर्णन विस्तारपूर्वक प्राप्त होता है। इसके अनुसार सृष्टि के आदि काल में इस ब्रह्माण्ड में परमब्रह्म रूपी परमात्मा भगवान वासुदेव की अंशरूपी सत्ता विराजमान थी। सामान्यतया वासुदेव पद से ''वासुदेवस्यापत्यं पुमान् वासुदेवः'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण का बोध होता है। परन्तु ''वसति विश्वमखिलमस्मिन्निति'' अर्थात् जिसमें पुरा विश्व ही निवास करता है या ''विश्वस्मिनखिले वसतीति वासुः'' के अनुसार इस पूरे विश्व में निवास करने वाले परम विश्वप्रकाशक तथा विश्वव्यापक परमब्रह्म का स्वरूप भी सिद्ध होता हैं। यद्यपि श्रीमद्भागवत के ''कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'' उपदेश वचन के अनुसार श्रीकृष्ण भी परमब्रह्म स्वरूप ही सिद्ध होते हैं। परन्तु साक्षात् द्वापर युग में इनकी प्रत्यक्ष उत्पत्ति होने के कारण समस्त विश्व के कर्त्ता के रूप में इस स्वरूप का उपयोग नहीं करते हुए पूर्वोक्त युक्तिजन्य परमब्रह्मरूपी वासुदेव का ग्रहण ही व्याख्याकार लोग स्वीकार करते हैं। अतः सृष्ट्यारम्भ काल में इस परमब्रह्म सच्चिदानन्द विश्वव्यापक भगवान के अंशरूप प्रधानपुरुष (पुरुषोत्तम) जो अव्यक्त (अतिन्द्रिय होने के कारण सामान्य चक्षुः से न दिखाई देने वाला), निर्गुण (सत्त्व, रज, तमरूपी तीनों गुणों से रहित), शुद्धस्वरूप (सर्वदोष रहित), पच्चीस विकृति आदि से रहित (16 विकृति + 7 प्रकृति की विकृतियाँ + 1 मूल + 1 जीव), अव्यय (जिसका कभी नाश न हो अर्थात् सर्वदा विद्यमान रहने वाला), प्रकृति के अन्तर्गत ही विराजमान रहने वाला, सर्वव्यापी भगवान संकर्षण (वासुदेव के अंश रूप) ने सर्वप्रथम जल का सृजन कर उस सृजित जल में शक्ति विशेष रूपी वीर्य को निक्षिप्त किया। भगवान संकर्षण द्वारा जल में निक्षिप्त होते ही शक्ति विशेष रूपी वीर्य जल के संयोग से गोलाकार चारों ओर से अन्धकार से ढका हुआ अण्डस्वरूपाकार तेज स्वरूप एक स्वर्णपिण्ड की उत्पत्ति हुई जिसके गर्भ से नित्य सनातन रूप में विद्यमान रहने वाले भगवान अरिरूद्ध साक्षात् प्रकट हुए –

वासुदेवः परब्रह्म तन्मूर्त्तिः पुरुषः परः।
अव्यक्तो निर्गुणः शान्तः पंचविंशात्परोऽव्ययः।
प्रकृत्यन्तर्गतो देवो बहिरन्तश्च सर्वगः।
संकर्षणोऽपः सृष्ट्वादौ तासु वीर्यमवासृजत्।।
तदण्डमभवद् हैमं सर्वत्र तमसा वृत्तम्।
तत्रानिरूद्धः प्रथमं व्यक्तीभूतः सनातनः।

इस प्रकार आपने जाना कि वासुदेवांश संकर्षण के द्वारा वीर्य एवं जल के संयोग से भगवान अनिरूद्ध प्रकट हुए। इन्हीं को वेदों में भगवान हिरण्यगर्भ के नाम से पढ़ा गया है।

आदिभूतत्वात् (सर्वप्रथम उत्पन्न होने के कारण) आदित्य एवं जगत् की उत्वत्ति करने के कारण इन्हें ही सूर्य भी कहा गया है (प्रसूत्या सूर्य उच्यते)। यथा–

हिरण्यगर्भो भगवानेषच्छन्दसि पठ्यते।
आदित्यो ह्यादिभूतत्वात् प्रसूत्या सूर्य उच्यते।।

आप सबको यह स्पष्ट हो गया होगा कि स्वर्णाण्ड से उद्भूत भगवान अनिरूद्ध का नाम ही हिरण्यगर्भ, आदित्य एवं सूर्य भी है। यह सूर्य समस्त लोक से अन्धकार का नाशक एवं स्वयं प्रकाश स्वरूप है यही भूतभावन अर्थात् सकल चराचरों की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश का कारक है। वेद, पुराण तथा दर्शन शास्त्रों में इसे ही महान् शब्द से सम्बोधित किया गया है। वेदों में ऋग्वेद इसका मण्डल, सामवेद रश्मियाँ तथा यजुर्वेद स्वरूप है इस प्रकार वेदत्रयात्मक यह भगवान सूर्य, काल का ज्ञान कराते हुए काल की आत्मा एवं काल का कारण भी है। यह ब्रह्माण्डरूपी रथ में विराजमान होकर संवत्सररूपी बारह मासात्मक चक्र (पहिया) की सहायता से गायत्र्यादि छन्दरूपी सात घोड़ों पर सवार होकर पूरे विश्व का भ्रमण करता हुआ तीनों लोकों को प्रकाशित कर काल का बोध कराता है। सूर्यसिद्धान्त के अनुसार सूर्य ही परमब्रह्म रूप में सर्वदा विद्यमान रहता है। इसी वेद अंशरूप संकर्षण से अनिरूद्धादि की उत्पत्ति सूचित है। यह जगत् की उत्पत्ति में समर्थ है तथा समग्र विश्व इसी में प्रतिष्ठित है।

सृष्टिक्रम में सर्वप्रथम भगवान अनिरूद्ध नें विश्वसृष्टि के निमित्त सर्वशक्ति सम्पन्न अहंकारतत्त्वरूप ब्रह्मा को उत्पन्न किया तथा इस स्वोत्पादित ब्रह्मा को विश्वोत्पादन पद्धति के रूप में वेदों का वरदान देते हुए पूर्वोक्त स्वर्णाण्ड के गर्भ में प्रतिष्ठापित कर यह आदेश दिया कि ''अत्रस्थेन त्वया विश्वानि स्रष्टव्यानि'' यहीं स्थित होकर तुम जगत् की सृष्टि करो तथा स्वयं विश्व को प्रकाशित करते हुए भ्रमण में संलग्न हो गये। यथा–

तस्मै वेदान् वरान् दत्त्वा सर्वलोकपितामहम्।
प्रतिष्ठाप्याण्डमध्येऽथ स्वयं पर्येति भावयन्।।

इस प्रकार आपने पढ़ा कि अनिरूद्ध ने ब्रह्मा की उत्पत्ति कर उनको सृष्टि का अधिकार प्रदान किया। सृष्टि का अधिकार प्राप्त करने के बाद अहंकारमूर्त्ति ब्रह्मा के मन में सृष्टि की ईच्छा जागृत हुई और इसी क्रम में ब्रह्मा के मन से सर्वप्रथम चन्द्रमा का तथा दोनों नेत्रों से तेजरूपी सूर्य का प्रादुर्भाव हुआ। इसीलिए वेदों में भी ''चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत'' यह उक्ति निरूपित है। पुनः इस सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत ब्रह्मा के मन से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, तथा जल से पृथिवी के द्वारा एक–एक गुणों की वृद्धि से इन पंचमहाभूतों की उत्पत्ति हुई। पुनः इन पंचमहाभूतों के द्वारा अग्नि तत्त्व से भौम (मंगल), पृथ्वी तत्त्व से बुध, आकाश तत्त्व से बृहस्पति, जल तत्त्व से शुक्र एवं वायु तत्त्व से शनि की उत्पत्ति होकर ग्रहमण्डल की रचना हुई। सूर्यसिद्धान्त में इसका निम्न प्रकार से प्रतिपादन किया गया है–

अथ सृष्ट्यां मनश्चक्रे ब्रह्माऽहंकारमूर्त्तिभृत्।
मनसश्चन्द्रमा जज्ञे सूर्योऽक्ष्णोस्तेजसां निधिः।।
मनसः खं ततो वायुरग्निरापो धराक्रमात्।
गुणैकवृद्ध्या पंचेति महाभूतानि जज्ञिरे।।
अग्नीषोमौ भानुचन्द्रौ ततस्त्वंगारकादयः।
तेजोभूखाम्बूवातेभ्यः क्रमशः पंच जज्ञिरे।।

सूर्यादि सात ग्रहों की सृष्टि के अनन्तर वशी ब्रह्मा ने ब्रह्माण्डगोलरूपी स्वयं को बारह समान भागों में विभक्त कर मेषादि राशियों के रूप में तथा पुनः सत्ताईस समान भागों में विभक्त कर अश्विन्यादि नक्षत्रों के रूप में प्रातिष्ठापित किया। इस प्रकार ब्रह्माण्ड के द्वादशांश रूपी राशि एवं सप्तविंशांश रूपी नक्षत्र स्थित हुए।

ग्रह–नक्षत्र–राशियों की सृष्टि करने के बाद स्रष्टा ब्रह्मा ने उत्तम–मध्यम–अधम रूपों में गुणों के नियमानुसार सत्त्व–रज–तम के भेद से देव, मनुष्य, दानव, पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि सहित सकल चराचरों की रचना की। इसमें सतोगुण प्रधान देवता, रजोगुण प्रधान मनुष्य एवं तमोगुण प्रधान राक्षसों की सृष्टि सम्पन्न हुई।

पुनर्द्वादशधाऽऽत्मानं व्यभजद् राशिसंज्ञकम्।
नक्षत्ररूपिणं भूयः सप्तविंशात्मकं वशी।।
ततश्चराचरं विश्वं निर्ममे देवपूर्वकम्।
उर्ध्वमध्याधरेभ्योऽथ स्रोतेभ्यः प्रकृतिः सृजन्।।

सूर्यसिद्धान्तीय सृष्टिक्रम–

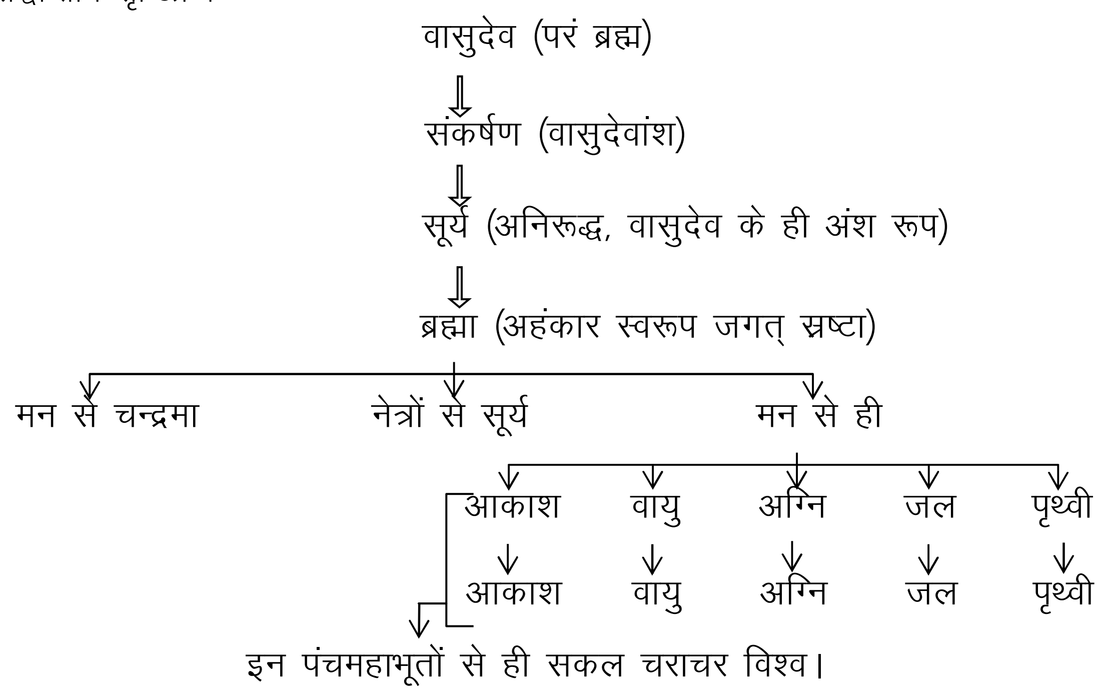

1.4.5 अभ्यास प्रश्न – 1

(1) इस ब्रह्माण्ड में कितने सौरमण्डल है?

(क) एक (ख) पाँच (ग) असंख्य (घ) बारह

(2) सृष्टि क्या है?

(क) पृथ्वी (ख) मनुष्य (ग) समस्त चराचरों की संरचना (घ) सूर्य

(3) भारतीय मान्यता के अनुसार समस्त ज्ञान–विज्ञान का स्रोत है।

(क) वेद (ख) पुराण (ग) साहित्य (घ) लोक

(4) भूपृष्ठ पर विद्यमान चराचर सृष्टि के स्रष्टा कौन है?

(क) वायुदेव (ख) परमब्रह्म (ग) ब्रह्मा (घ) विष्णु

(5) ज्योतिष में प्रत्यक्ष, आगम और युक्ति प्रमाण को किसने माना है?

(क) भास्कराचार्य (ख) सूर्य (ग) वराहमिहिर (घ) कमलाकर भट्ट

(6) स्वर्णाण्ड के गर्भ से उत्पन्न पुरुष का क्या नाम था?

(क) वासुदेव (ख) अनिरूद्ध (ग) संकर्षण (घ) ब्रह्मा

(7) काल की आत्मा कौन है?

(क) सूर्य (ख) चन्द्र (ग) ब्रह्म (घ) ब्रह्मा

(8) ब्रह्मा के मन से किस ग्रह की उत्पत्ति हुई?

(क) सूर्य (ख) मंगल (ग) बुध (घ) चन्द्रमा

(9) आकाश तत्त्व युक्त ग्रह है।

(क) सूर्य (ख) मंगल (ग) गुरु (घ) शनि

(10) तमोगुण प्रधान कौन होता है?

(क) राक्षस (ख) मनुष्य (ग) देवता (घ) ब्रह्मा

1.4.6 सिद्धान्त शिरोमणि के अनुसार सृष्टि सिद्धान्त–

अब तक आपने वेदादि एवं ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत सूर्यसिद्धान्तीय मतानुसार सृष्टि के सिद्धान्त को समझा। अब आप ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रन्थों में अग्रगण्य भास्कराचार्य विरचित सिद्धान्त शिरोमणि के अनुसार सृष्टि सिद्धान्त को समझेगें।

सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ में आचार्य भास्कर नें सूर्यसिद्धान्त से किंचित् भिन्न सांख्यदर्शन के अनुरूप सृष्टि सिद्धान्त का वर्णन किया है। जैसा कि हम सब जानते है कि सांख्य दर्शन में प्रकृति की गुणसाम्यता प्रधान अव्यक्त रूप में सृष्टि का कारण होती है। अतः यहाँ प्रकृति–पुरुष में क्षोभ उत्पन्न होने पर इन दोनों के द्वारा बुद्धि तत्त्व अर्थात् महत्तत्त्व की उत्पत्ति हुई तथा पुनः बुद्धि तत्त्व (महत्) से अहंकार तत्त्व की उत्पत्ति हुई। इसका वर्णन विष्णुपुराण में भी प्राप्त होता है। यथा–

वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः।
त्रिविधोऽयमहंकारो महत्तत्त्वादजायत्।।

प्रकृति–पुरुष द्वारा उत्पन्न महत् एवं महत् तत्त्व से उत्पन्न अहंकार तत्त्व के द्वारा सूर्यसिद्धान्तोक्तवत् सृष्टि की प्रक्रिया आरम्भ हुई अर्थात् यहाँ भी पूर्व की भांति अहंकार तत्त्व से आकाश तत्त्व, आकाश तत्त्व से वायु तत्त्व, वायु तत्त्व से अग्नि तत्त्व, अग्नि तत्त्व से जल तत्त्व तथा जल तत्त्व से पृथ्वी तत्त्व की उत्पत्ति हुई जिसमें क्रमशः एक–एक की वृद्धि क्रम से गुणाधिक्य प्राप्त होता है अर्थात् आकाश में केवल शब्द गुण प्राप्त होता है। वायु में शब्द और स्पर्श; तेज में शब्द, स्पर्श और रूप; जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध का गुण प्राप्त होता है। इसमें भी पहले इनकी तन्मात्राएँ एवं इन तन्मात्राओं से भूतों की उत्पत्ति सूचित है अर्थात् उपर लिखे हुए क्रम में अहंकार तत्त्व से शब्द तन्मात्रा तथा शब्द तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति हुई इसी प्रकार आकाश से स्पर्श तन्मात्रा तथा स्पर्श तन्मात्रा से वायु, वायु से रूप तन्मात्रा एवं इससे तेज, तेज से रस तन्मात्रा एवं इससे जल, जल से गन्ध तन्मात्रा तथा इससे पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। क्यों कि यहां तन्मात्राएँ ही विशेष गुण से सम्पन्न होकर भूतों की उत्पत्ति का कारक हैं।

आपने जाना की किस प्रकार इस समग्र ब्रह्माण्ड के कारण रूप पंचमहाभूतों की उत्पत्ति हुई। अब आप इन पंचभूतों की सहायता से ब्रह्माण्ड एवं अन्य ग्रह–नक्षत्रादि पिण्डों के सहित चराचरों की सृष्टि को जानेगें।

पंचमहाभूतों की उत्पत्ति के बाद उनके सम्मिश्रण से गोलाकार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई तथा इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत ही ब्रह्माण्ड में स्थित अन्य सभी ग्रह–नक्षत्रादि पिण्डों की उत्पत्ति हुई जिनमें सूर्य अग्नि तत्त्व प्रधान, चन्द्रमा सोम तत्त्व प्रधान, भौम तेज तत्त्व प्रधान, बुध भू तत्त्व प्रधान, बृहस्पति आकाश तत्त्व प्रधान, शुक्र जल तत्त्व प्रधान तथा शनैश्चर वायु तत्त्व प्रधान ग्रहपिण्ड है। पंचभूत निर्मित इस ब्रह्माण्ड में बीचो–बीच (मध्यकेन्द्र) में पंचतत्त्वों

की समाहार रूपी भूमि स्थित है तथा इसके उत्तर में सुमेरू विद्यमान है जिस पर देवताओं का निवास होता है। इसी सुमेरू की एक पद्म कणिका पर विराजमान होकर ब्रह्मा इस भूपृष्ठ पर सकल चराचरों की सृष्टि करते हैं। जैसा कि शिरोमणि में कहा गया है–

यस्मात्क्षुब्धप्रकृतिपुरुषाभ्यां महानस्यगर्भे–
ऽहंकारोभूत्खकशिखिजलोर्व्यस्ततः संहतेश्च।
ब्रह्माण्डं यज्जठरगमहीपृष्ठनिष्ठाद्विरंचे–
विश्वं शश्वज्जयति परमं ब्रह्मतत्तत्त्वमाद्यम्।।

प्रस्तुत प्रसंग में भास्कराचार्य नें वर्णन करते हुए लिखा है कि पंचभूतों से निर्मित यह भूखण्ड क्रमशः चन्द्रमा, बुध, शुक्र, रवि, कुज, बृहस्पति, शनि एवं नक्षत्रों के भ्रमणपथ रूपी कक्षा वृत्तों से आवृत्त होकर इस ब्रह्माण्ड के मध्य में आकर्षण शक्ति नामक परमब्रह्म की धारणात्मिका शक्ति से बिना किसी आधार के ही आकाश में स्थित है तथा इसके (भूपिण्ड के) पृष्ठभाग पर चारों तरफ शाश्वत् रूप में मानव, दानव, वन, उपवन आदि विद्यमान हैं। जिस प्रकार कदम्ब पुष्प की ग्रन्थि के चारों ओर ऊर्ध्वाधः तिर्यक रूप में उसके केसर स्थित होते है ठीक उसी प्रकार इस भूपिण्ड के चतुर्दिक्षु वन, उपवन, पर्वत, ग्राम, नगर आदि विद्यमान होकर इस पृथ्वी को सुशोभित कर रहे हैं।

भूमेः पिण्डः शशांकज्ञकविरविकुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षा–
वृत्तैर्वृत्तो वृत्तः सन् मृदनिलसलिलव्योमतेजो मयोऽयम्।
नान्याधारः स्वशक्त्यैव वियति नियतं तिष्ठतीहास्य पृष्ठे
निष्ठं विश्वं च शश्वत्सदुजमनुजादित्यदैत्यं समन्तात्।।
सर्वतः पर्वतारामग्रामचैत्यचयैश्चितः।
कदम्बकुसुमग्रन्थिः केसरप्रसरैरिव।।

1.4.7 अभ्यास प्रश्न – 2

(1) महत् तत्त्व से किसकी उत्पत्ति हुई?

(क) अहंकार (ख) जल (ग) आकाश (घ) अग्नि

(2) पृथ्वी तत्त्व की उत्पत्ति किससे हुई?

(क) अग्नि तत्त्व से (ख) वायु तत्त्व से (ग) जल तत्त्व से (घ) आकाश तत्त्व से

(3) अग्नि तत्त्व की कितनी तन्मात्राएँ होती है?

(क) 02 (ख) 03 (ग) 04 (घ) 05

(4) शब्द तन्मात्रा की उत्पत्ति किससे हुई?

(क) महत्	(ख) ब्रह्म	(ग) अहंकार	(घ) आकाश

(5) भू तत्त्व प्रधान ग्रह कौन है?

(क) सूर्य	(ख) मंगल	(ग) चन्द्रमा	(घ) बुध

(6) ब्रह्माण्ड के मध्य में कौन सा पिण्ड स्थित है?

(क) पृथ्वी	(ख) सूर्य	(ग) चन्द्र	(घ) उल्का

(7) ब्रह्माण्ड के अन्दर सूर्य के उपर किस ग्रह की कक्षा है?

(क) शुक्र की	(ख) मंगल की	(ग) गुरु की	(घ) शनि की

(8) प्रकृति–पुरुष के क्षोभ से सर्वप्रथम कौन सा तत्त्व उत्पन्न हुआ?

(क) अहंकार	(ख) महत्	(ग) वासुदेव	(घ) शब्द

1.5 सृष्टि जगत् के आधुनिक सिद्धान्त

इस पाठ में अब तक आपने वेद, उपनिषद्, वेदांग तथा ज्योतिष के मत में भारतीय दर्शन के अभिमत प्रतिपादित सृष्टि जगत् के सिद्धान्तों एवं परम्पराओं के बारे में जाना। अब आप आधुनिक विज्ञान के मत में प्रतिपादित सृष्टि जगत् के कुछ सिद्धान्तों का अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त करेंगें।

आधुनिक विज्ञान जगत् में भी सृष्टि का कोई स्थायी सिद्धान्त नहीं स्थापित हो पाया है। अनेक वैज्ञानिकों ने प्रस्तुत सन्दर्भ में अन्वेषण पूर्वक अनेक नियमों को उपस्थापित किया परन्तु अभी तक कोई सर्वमान्य नियम स्थापित नहीं हो सका है। तथापि आधुनिक विज्ञान जगत् द्वारा प्रस्तुत सन्दर्भ में किए गये शोधकार्यों में ''बिगबैंग थ्योरी'' (Big Bang Theory) जो कि बेल्जियम वैज्ञानिक जार्ज लेमिटर (Georges Lamaitre) ने 1920 में सर्वप्रथम प्रतिपादित किया था सर्वाधिक प्रमाणिक एवं प्रसिद्ध है। बहुशः यह सिद्धान्त भी भारतीय प्राचीन नियमों का अनुसरण करता हुआ ही दिखाई पड़ता है। इस सिद्धान्त के नियमानुसार यह सृष्टि एक महान विस्फोट के द्वारा उत्पन्न हुई है। इस मान्यता के अनुसार लगभग 13,70,00,00,000 सौर वर्ष पहले जब इस ब्रह्माण्ड का निर्माण नहीं हुआ था अर्थात् जब कुछ भी कही नहीं था उस समय यह ब्रह्माण्ड एक परमाणु रूप में विद्यमान था जिसमें ऊर्जा की सघनता बढ़ने से उत्पन्न उष्णता की अधिकता के कारण विस्फोट हुआ था और फैलते हुए 1.43 सेकेण्ड के अन्दर ही ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत अन्तरिक्ष का समग्र स्वरूप प्रकट हो गया। विस्फोट के अनन्तर परमाणु से ऊर्जा उत्सर्जन के कारण ही विश्व का यह प्रसरणशील स्वरूप दिखाई पड़ता है तथा यह विश्व आज भी विस्तारशील है। इस सृष्टि की प्रक्रिया के क्रम में विस्फोट के बाद अल्पघनत्व से युक्त क्षेत्र गुरुत्त्वाकर्षण के प्रभाव से

घनत्व की अधिकता वाले स्वरूप में परिणत होकर एक ओर जहां विस्फोट के प्रभाव से प्रसरणशील थे वहीं दूसरी ओर गुरुत्त्वाकर्षण के प्रभाव से परस्पर आकर्षित भी थे। अतः इस स्थिति थे जहाँ पदार्थों का घनत्व अधिक था वहाँ गुरुत्त्वाकर्षण का बल ब्रह्माण्ड के प्रसरण में कारणभूत बल से अधिक हो गया जिससे की पदार्थ एकत्रित होकर पिण्ड स्वरूप में परिवर्तित हुए। इस प्रकार खगोलीय समस्त पिण्डों का निर्माण हो गया। विस्फोट के बाद अत्यधिक उष्णता के कम होने पर लघु घटकों का भी संयोजन सम्पन्न हुआ। इसी क्रम में हब्बल नामक वैज्ञानिक नें 1919 ईस्वीय वर्ष में ''लाल विचलन'' (Red Sheft) सिद्धान्त के आधार पर प्रामाणित किया कि यह ब्रह्माण्ड निरन्तर प्रसरणशील है अर्थात् इसमें निरन्तर विस्तार हो रहा है। इस ब्रह्माण्ड में स्थित आकाशगंगाएं तीव्र गति से परस्पर दूर जा रही हैं। अतः इससे अनुमान करते हैं कि भूतकाल में ये आकाशगंगाएं आसन्नवर्ती थीं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति काल में ब्रह्माण्डस्थ सभी पदार्थ और ऊर्जा अत्यधिक तापमान और घनत्व में एक ही बिन्दु पर थीं। इसी ''लाल विचलन'' सिद्धान्त के आधार पर 1948 ई. में जार्ज गैमो नें ''ब्रह्माण्डीय–सूक्ष्म–तरंग– विकिरण'' (Cosmic Microwave Background Radiation) की भविष्यवाणी की जिसको 1960 में परवर्ती वैज्ञानिकों ने प्रमाणित किया। जिससे ''महाविस्फोट सिद्धान्त'' और भी सुदृढ़ हुआ। परन्तु इसके पूर्व में भी 1927 ई. में जार्ज लेमिट् नें अलबर्ट आइन्सटीन के 'सापेक्षता सिद्धान्त (Theory of General Relativity) के आधार पर ''लेमिट्–राबर्टसन–वाकर–समीकरण'' (Friedmann-Lemaitre-Robertson-Walkar-Equation) सिद्धान्त का आविष्कार किया जिसके अनुसार भी इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एक परमाणु के द्वारा हुई है। परन्तु उस समय इस सिद्धान्त को तत्कालीन वैज्ञानिकों नें मान्यता नहीं दी लेकिन यह आज का सबसे प्रामाणिक एवं बहुमान्य सिद्धान्त है।

1.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आपने सृष्टि सिद्धान्त से सम्बन्धित वैदिक, पौराणिक, दार्शनिक एवं ज्योतिषीय अवधारणाओं के साथ आधुनिक विज्ञान जगत् द्वारा स्वीकृत नवीनतम सिद्धान्तों का अध्ययन किया एवं उनको समझा। उपर्युक्त सभी तथ्यों को ध्यान में रखकर यदि हम गम्भीर अनुशीलन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक वाङ्मय में प्रतिपादित हिरण्यगर्भ, सूर्यसिद्धान्त के द्वारा वर्णित हिरण्यगर्भ से उत्पन्न अनिरूद्ध एवं भास्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित प्रकृति–पुरुष का संकर्षण स्वरूप सृष्टिकर्त्ता ये सभी आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित 'बिग बैंग थ्योरी' (Big Bang Theory) के मूलाधार एवं बीज रूप ही हैं। जिससे की यह समग्र सृष्टि उत्पन्न हुई। इस सिद्धान्त को हमारे भारतीय मनीषियों ने कथानक के माध्यम से मूल रूप में स्थापित किया है। अतः निर्भ्रान्त रूप में यह सिद्धान्त भारतीय मनीषा का आविष्कार है।

1.7 शब्दावली

सृजन = बनाना (सृष्टि करना)
निक्षिप्त = डालना
वशी = अपनी ईच्छा के अनुरूप सभी विषय जिसके वश में रहें।
क्षोभ = सृष्टि की ईच्छा।
प्रकृति = सृष्टि की उत्पत्ति में कारण।
पुरुष = ईश्वर
आवृत्त = घिरा हुआ
निर्भ्रान्त = निःसन्देह
मनीषा = बुद्धि

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(1.4.5) अभ्यास प्रश्न – 1 का उत्तर

(1) – (ग) असंख्य (2) – (ग) समस्त चराचरों की संरचना

(3) – (क) वेद (4) – (ग) ब्रह्मा

(5) – (घ) कमलाकर भट्ट (6) – (ख) अनिरूद्ध

(7) – (क) सूर्य (8) – (घ) चन्द्रमा

(9) – (ग) गुरु (10) – (क) राक्षस

(1.4.7) अभ्यास प्रश्न – 2 का उत्तर

(1) – (क) अहंकार (2) – (ग) जल तत्त्व से

(3) – (ख) 03 (4) – (ग) अहंकार

(5) – (घ) बुध (6) – (क) पृथ्वी

(7) – (ख) मंगल की (8) – (ख) महत्

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(1) अर्वाचीन ज्योतिर्विज्ञानम्
(2) ऋग्वेद संहिता

(3) तैत्तरीय ब्राह्मण
(4) तैत्तरीयोपनिषद्
(5) सूर्यसिद्धान्त
(6) सिद्धान्त शिरोमणि
(7) ज्योतिष सिद्धान्त मंजूषा

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

(1) सृष्टि क्या है?
(2) वेदांगादि के अनुसार सृष्टि के सिद्धान्तों को बताएं।
(3) सूर्यसिद्धान्त के मत में सृष्टि सिद्धान्त को उपस्थापित करें।
(4) सिद्धान्त शिरोमणि के मत में सृष्टि सिद्धान्त की व्याख्या करें।
(5) सृष्टि विषयक आधुनिक सिद्धान्त

इकाई – 2 प्रलय की अवधारणा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 प्रलय एवं उसके भेद

2.4 दैनन्दिन प्रलय

2.5 ब्राह्मलय

अभ्यास प्रश्न – 1

2.6 प्राकृतिक प्रलय

2.7 आत्यन्तिक प्रलय

अभ्यास प्रश्न – 2

2.8 सारांश

2.9 शब्दार्थ

2.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.12 अभ्यास के लिए प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई–505 की चतुर्थ खण्ड के अन्तर्गत द्वितीय इकाई से सम्बन्धित है। इसका शीर्षक है– प्रलय की अवधारणा। सम्बन्धित समग्र विश्व में सृष्टि एवं प्रलय के विषय में अति प्राचीन काल से ही विचार–विमर्श प्रचलित है तथा इस सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त एवं अवधारणाएं समय–समय पर प्रकाशित होती रही हैं, परन्तु इनका कोई भी निश्चित काल या निश्चित प्रकार नियत नहीं हो सका हैं। सभी विचारक अपनी–अपनी धार्मिक, सैद्धान्तिक एवं वैज्ञानिक अवधारणाओं के साथ प्रलय के विषय में अपना मत उपस्थापित करते हैं। विगत दशकों में अनेक मान्यताओं एवं सिद्धान्तों के अनुसार इस सृष्टि के प्रलय की अनेक भविष्यवाणियाँ कर दी गई परन्तु यह सृष्टि आज भी अपने शाश्वत स्वरूप में विद्यमान है। भारतीय परम्परा के अन्तर्गत वेद–वेदांगादि ग्रन्थों में भी इससे सम्बन्धित अनेक विचार प्रसंगानुसार प्रतिपादित हैं। जिसमें भारतीय ज्योतिषशास्त्र भी पुराण एवं दर्शन शास्त्रों के आधार से अपना स्वतन्त्र विचार रखता है। क्यों कि ज्योतिषशास्त्र एक कालविधान शास्त्र है तथा सृष्टि के आदि से प्रलयान्त तक की गणना इसमें समाहित है इसीलिए भास्कराचार्य नें सिद्धान्त की परिभाषा के क्रम में सर्वप्रथम लिखा है कि जिसमें काल की सबसे छोटी इकाई ''त्रुटि'' से आरम्भ कर प्रलयान्त तक की काल गणना होती है उसे सिद्धान्त ज्योतिष कहते हैं। यथा– **''त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलना''** इति। अतः आप इस पाठ के अन्तर्गत ज्योतिषशास्त्र में वर्णित प्रलय की अवधारणा के विषय में जानेंगे।

2.2 उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के पश्चात आप जान सकेंगे कि–

- ✓ प्रलय किसे कहते हैं?
- ✓ प्रलय कब होता है?
- ✓ प्रलय का स्वरूप क्या है?
- ✓ प्रलय के कितने भेद होते हैं?
- ✓ प्रलय के विषय में ज्योतिषीय अवधारणा क्या है?
- ✓ प्रलय की भारतीय अवधारणा क्या है?
- ✓ जीव के आवागमन से मुक्ति का मार्ग क्या है?

2.3 प्रलय एवं उसके भेद

हमारी सनातन भारतीय परम्परा के अनुसार इस सृष्टि एवं इसके प्रलय के विषय में श्रुति–स्मृति–पुराण–शास्त्र एवं अन्यान्य शास्त्रीय ग्रन्थ ही प्रमाण हैं। क्यों कि वैज्ञानिक दृष्टि से आज तक भी इसके स्वरूप एवं अवधारणा को कोई वैज्ञानिक आधार प्राप्त नहीं हो सका है। परन्तु भारतीय दर्शनशास्त्र एवं पुराणादि में इसकी विस्तृत विवेचना प्राप्त होती है। अतः इनकी मान्यताओं के अनुसार प्रस्तुत सन्दर्भ में विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रलय की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में सर्वप्रथम प्राप्त होता है कि **''लयो नाम भूतविनाशः''** अर्थात् समग्र सृष्टि के विनाश सहित पंचमहाभूतों का परमब्रह्म में समाहित हो जाना ही लय है, जो ''प्र'' उपसर्ग पूर्वक ''प्रलय'' हो जाता है। प्रलय के सन्दर्भ में पुराणों में अनेक मतान्तर तथा भेद भी प्राप्त होते हैं, अतः इसको भेदों के अनुसार ही समझा जा सकता है। श्रीविष्णुपुराण के अनुसार नैमित्तिक, प्राकृतिक एवं आत्यन्तिक भेद से प्रलय तीन प्रकार का होता है। यथा–

सर्वेषामेव भूतानां त्रिविधः प्रतिसंचरः।

नैमित्तिकः प्राकृतिकस्तथैवात्यन्तिको लयः।।

परन्तु कूर्मपुराण में नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक एवं आत्यन्तिक भेद से प्रलय की चार अवस्थाएं होती हैं। यथा–

नित्यं नैमित्तिकञ्चैव प्राकृत्यान्तिकौ तथा।

चतुर्धायं पुराणेऽस्मिन् प्राप्यते प्रतिसंचरः।।

इसी प्रकार अन्य पुराणों में भी प्रलय के भेद एवं लक्षण वर्णित हैं। ब्रह्मपुराण के प्रमाणानुसार काल ही परमब्रह्म रूप में सर्वसमर्थवान्, सृष्टि का कर्त्ता एवं कालपूर्ति पर समग्र सृष्टि का विनाशक होता है। समग्र ब्रह्माण्ड काल में ही गतिमान है तथा काल को छोड़कर इस ब्रह्माण्ड में कोई एक क्षण भी स्थित नहीं रह सकता। अतः काल सर्वशक्तिमान रूप में अपनी सत्ता को उपस्थापित करता है। यथा–

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येवाऽऽत्मनात्मनि।

यस्मिंस्तु पच्यते कालस्तन्न वेदेह कश्चन।।

आपने काल स्वरूप के ज्ञान के प्रसंग में पढ़ा और जाना है कि इस प्रकार के सर्वशक्तिमान, सृष्टि के कारक तथा विनाशक काल की समग्र विवेचना भारतीय ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत ही होती है क्यों कि वेदों के अर्थावबोध हेतु ब्रह्मा द्वारा प्रतिपादित षड्वेदांगों में ज्योतिषशास्त्र ही काल विधान शास्त्र है। जिसमें वर्णित काल के भेदों में से एक काल सकल चराचरों के विनाश के रूप में ''अन्तकृत्'' नाम से पठित है। अतः ज्योतिष के अनुसार पुराणों की सहायता से प्रलय सम्बन्धित विस्तृत विचार–विमर्श यहाँ उपस्थापित कर रहे हैं।

यद्यपि ज्योतिषशास्त्र के प्रायः सभी सिद्धान्त ग्रन्थों में प्रलय की सूक्ष्म अवधारणा सूत्र रूप में वर्णित है परन्तु लल्ल के शिष्यधिवृद्धिदम् एवं भास्कराचार्य के सिद्धान्त शिरोमणि में इसका विशेष वर्णन प्राप्त होता है। आपने सृष्टि क्रम में पढ़ा है कि ब्रह्मा ही सृष्टि के मूल में विद्यमान होकर जगत् का सृजन एवं पुनः कालान्तर में विनाश करते हैं। अतः ब्रह्म के दिवसादि सम्बन्धी विचारों से ही भास्कराचार्य एवं आचार्य लल्ल ने प्रलय की चर्चा आरम्भ की है। यथा भास्कराचार्य–

वृद्धिर्विधेरह्नि भुवः समन्तात् स्याद्योजनं भूभवभूतपूर्वैः।
ब्राह्मे लये योजनमात्रवृद्धेर्नाशो भुवः प्रकृतिकेऽखिलायाः।।
दिने–दिने यन्म्रियते हि भूतैर्दैनन्दिनं तं प्रलयं वदन्ति।
ब्राह्मं लयं ब्राह्मदिनान्तकाले भूतानि यद्ब्रह्मतनुं विशन्ति।।
ब्रह्मात्यये प्रत्प्रकृतिं प्रयान्ति सर्वाण्यतः प्रकृतिकं कृतीन्द्राः।
लीनान्तयः कर्मपुटान्तरत्वात् पृथक् क्रियन्ते प्रकृतेर्विकारैः।।
ज्ञानाग्निदग्धाखिलपुण्यपापाः मनः समाधाय हरौ परेशे।
यद्योगिनो यान्ति निवृत्तिमस्मादात्यान्तिकं चेति लयश्चतुर्धा।।

इस प्रकार भास्कराचार्य नें अपने सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ में प्रलय विषय का वर्णन करते हुए निम्नलिखित भेद उपस्थापित किया है–

(1) दैनन्दिन प्रलय, (2) ब्राह्म प्रलय, (3) प्राकृतिक प्रलय, (4) आत्यन्तिक प्रलय

प्रलय

दैनन्दिन ब्राह्म प्राकृतिक आत्यन्तिक

प्रलय की परिभाषा एवं उनके भेदों को जानने के बाद अब आप उपर्युक्त इन दैनन्दिन आदि प्रलय के चारों भेदों की पृथक्–पृथक् विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे।

2.4 दैनन्दिन प्रलय

''**दिने–दिने यन्म्रियते हि भूतैर्दैनन्दिनं तं प्रलयं वदन्ति**''। जो प्रतिदिन होता है उसे दैनन्दिन कहते हैं। इस संसार में कुछ प्राणी प्रतिदिन उत्पन्न होते हैं एवं मरते हैं। इस प्रक्रिया को पूर्वाचार्यों नें दैनन्दिन प्रलय कहा है। पौराणिक मान्यताओं के अनुसार परमपिता परमेश्वर की ईच्छा से इस भूलोक पर प्रतिक्षण सृष्टि एवं विनाश की प्रक्रिया शाश्वत स्वरूप में चलती रहती है यही प्रक्रिया एवं इसका परिणाम यहां दैनन्दिन प्रलय के रूप में प्रसिद्ध है। इस ब्रह्माण्ड में प्रतिक्षण होने वाले परिवर्त्तन भी इसी दैनन्दिन प्रलय रूपी प्रक्रिया के अंग हैं। जैसा लल्ल ने भी कहा है–

विहायसा गच्छति या समाहते विनाशमायाति विनाशमागते।

ध्वनिप्रणाशे नभसः क्षयो यथा व्यसोः शरीरस्य सतो मृताह्वयः।।

2.5 ब्राह्मलय

ब्रह्मा सम्बन्धी लय ब्राह्मलय होता है। आपने काल ज्ञान के प्रसंग में पढ़ा है कि एक हजार महायुग अर्थात् एक कल्प का ब्रह्मा का एक दिन होता है। इस ब्रह्मा के प्रत्येक दिवस की समाप्ति काल में भी कुछ प्रलय की स्थिति बनती है। अतः ब्रह्मा के दिनान्त में जो प्रलय होता है उसे ब्राह्मलय के नाम से जाना जाता है। विष्णुपुराण के अन्तर्गत **''तदन्ते चैव मैत्रेय ब्राह्मो नैमित्तिको लयः''** कहते हुए ब्रह्मा के दिवसावसान काल में होने वाले प्रलय को नैमित्तिक प्रलय के नाम से कहा गया है। ब्रह्मा के दिवसावसान कालिक इस ब्राह्मलय के पूर्व ब्रह्मा के दिन के आरम्भ काल में यह पृथ्वी चारों दिशाओं में अपने ऊपर विराजमान इस चराचर सृष्टि तृण, वृक्ष, प्राणि, पाषाण, पर्वत, पत्तन आदि के साथ एक योजन की वृद्धि को प्राप्त हो जाती है जिससे इस भूपिण्ड का पूर्ववर्ती व्यासमान चतुर्दिक्षु एक योजन की वृद्धि से दो योजन विस्तृत हो जाता है। प्रमाणानुसार एक योजन में 4 क्रोश, एक क्रोश में 2000 दण्ड तथा एक दण्ड में 4 हाथ होता है। ब्राह्मलय के समय ब्रह्मा के दिवसावसान काल में ब्राह्मलय के अन्तर्गत उपर्युक्त ब्रह्मा के दिवसारम्भ काल में चारों तरफ से योजन मात्र वृद्धि को प्राप्त अतिरिक्त भूभाग का ही नाश होता है न कि सम्पूर्ण भूपिण्ड का। इसके अन्तर्गत भूपृष्ठ पर विराजमान भू, भुवः तथा स्वः इन तीन लोकों की चराचर सृष्टि का विनाश हो जाता है परन्तु यह पृथ्वी अपने शाश्वत रूप में ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सभी ग्रह–नक्षत्रादि के केन्द्र रूप में प्रतिष्ठित रहती है। भास्कराचार्य नें भुर्भूवः आदि सात लोकों में से 'भूः', 'भुवः', एवं 'स्वः' लोक को इस पृथ्वी पर ही माना है। इस मान्यता के अनुसार निरक्षदेश से दक्षिण का भाग भूमण्डल ''भूः'' लोक, निरक्षदेश से उत्तर भाग का भूमण्डल ''भुवः'' लोक तथा उत्तरी ध्रुवगत मेरु का प्रदेश ''स्वः'' लोक है। यथा–

भूर्लोकाख्यो दक्षिणे व्यक्षदेशा–

त्तत्स्मात्सौम्योऽयं भुवः स्वश्च मेरुः।

लभ्यः पुण्यैः खे महः स्याज्जनोऽ–

तोऽनल्पानल्पैः स्वैस्तपः सत्यमन्त्यः।।

इस ब्राह्मलय के अन्तर्गत प्राणियों का ब्रह्मा के शरीर में लय हो जाता है अर्थात् जिनके पुण्य या पाप कुछ भी अवशिष्ट है वे समस्त भूपृष्ठस्थ प्राणीजन काल के प्रभाव से प्रभावित होकर ब्रह्मशरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रसंग में ब्राह्मणगण ब्रह्मा के मुख में, क्षत्रिय ब्रह्मा की भुजाओं में, वैश्य उरु में तथा शूद्रगण ब्रह्मा के पाद में समाहित हो जाते हैं। लल्ल नें प्रस्तुत ब्राह्म लय का निम्नलिखित वचनों में वर्णन किया है–

हिरण्यगर्भस्य दिने तु काश्यपी समन्ततो वृद्धिमुपैति योजनम्।

पुनश्च नाशं समुपैति वेधसो निशात्यये कृत्रिममृण्मयश्चयः।।

दिनावसाने च जगत्त्रयं तथा मनुक्षये यत्पुनरत्र जायते।।

इसी मत का समर्थन आचार्य कमलाकर भट्ट ने भी अपने सिद्धान्ततत्त्वविवेक नामक ग्रन्थ में करते हुए लिखा है कि–

भूमेरेव विभागास्ते भूर्भुवः स्वः सदोदिता।

व्यक्षाद्याम्ये तथा सौम्ये तथा मेरुरिति क्रमात्।

तद्गतब्रह्मसृष्टेः स्याद्विलयस्तद्दिनान्तजः।।

परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में आचार्य श्रीपति नें अपने ग्रन्थ सिद्धान्तशेखर में स्वीकार किया है कि ब्रह्मा के दिवसारम्भ काल में सभी ग्रहर्क्षादि ज्योतिष पिण्डों की सृष्टि होती है तथा दिवसावसान काल में उपस्थित ब्राह्मलय के समय आकाशस्थ समस्त ग्रहनक्षत्रादि ज्योतिष पिण्डों का भी सकल चराचरों के साथ विनाश हो जाता है। यथा **''ज्योतिर्ग्रहाणां विधिवासरादौ सृष्टिर्लयस्तद्दिवसावसाने''**। श्रीपति के सिद्धान्तशेखरोक्त इस मत का समर्थन सूर्यसिद्धान्त तथा अनेक पुराणों में भी प्रापत होता है। परन्तु कमलाकर भट्ट नें इन दोनों मतों में सामंजस्य स्थापित करते हुए लिखा है कि ब्रह्मा के दिवसावसान काल में ग्रह–नक्षत्रादि आकाशस्थ ज्योतिष पिण्डों का नहीं अपितु ब्रह्मा द्वारा जप–पूजनादि वेदोक्त कर्मों के प्रतिपादन हेतु देवतांश स्वरूप में सृजित तथा स्वः लोक सुमेरु पर विद्यमान देवतांश पुरुषों का नाश होता है। प्रस्तुत प्रसंग में कमलाकर भट्ट नें एक पृथक् मत का सम्पादन करते हुए बताया है कि ब्रह्मा द्वारा पंचभूतों से जो ग्रह–नक्षत्रादि ज्योतिष पिण्डों की सृष्टि होती है उससे भिन्न इस भूपृष्ठ पर देवताओं का सुमेरु नामक उत्तरी ध्रुव का जो स्थान है उस पर ब्रह्मा द्वारा ही वेदोक्त जप–पूजनादि कर्म प्रतिपादन हेतु देवतांशों की भी सृष्टि होती है। अतः ब्रह्मा के दिवसावसान काल में उपस्थित इस ब्राह्मलय के समय भूः, भुवः और स्वः लोक के अन्तर्गत ही विद्यमान इन देवतांश पुरुषों का विनाश होता है न कि पिण्ड रूप में विद्यमान ग्रह–नक्षत्रादि पिण्डों का। यथा–

जपपूजनहेतोस्ते निर्मिताः देवतांशकाः।

विधिना बिम्बरूपा ये तद्भिन्नास्त्वव्ययाः।।

<u>अभ्यास प्रश्न – 1</u>

(1) प्रलय की व्युत्पत्ति क्या है?

(क) लयो नाम भूतविनाशः (ख) प्रलयो नाम मनुष्यनाशः

(ग) लयो नाम पशुपक्षिनाशः (घ) लयो नाम ग्रहपिण्डनाशः

(2) प्रलय के कितने भेद हैं।

(क) 01 (ख) 02

(ग) 03 (घ) 04

(3) दैनन्दिन प्रलय कब होता है?

(क) ब्रह्मा के दिवसादिकाल में (ख) ब्रह्मा के दिवसान्तकाल में

(ग) प्रतिदिन (घ) कल्पादि में

(4) योजन मात्र पृथ्वी का विस्तार कब होता है?

(क) ब्रह्मा के दिवसादि में (ख) ब्रह्मा के दिवसान्त में

(ग) दैनन्दिन प्रलय में (घ) आत्यन्तिक प्रलय में

(5) ब्रह्मा के दिवसान्त काल में कौन सा प्रलय होता है?

(क) दैनन्दिन प्रलय (ख) ब्राह्म लय

(ग) प्राकृतिक लय (घ) आत्यन्तिक लय

(6) ब्रह्मा के एक दिन का प्रमाण क्या है?

(क) मनु (ख) युग

(ग) कल्प (घ) महाकल्प

(7) स्वः लोक कहाँ स्थित है?

(क) पृथ्वी के ऊपर आकाश में (ख) पृथ्वी के नीचे पाताल में

(ग) उत्तरी ध्रुव पर (घ) दक्षिणी ध्रुव पर

(8) ज्योतिषशास्त्र के किस ग्रन्थ में आकाश में विद्यमान ग्रह–नक्षत्रादि पिण्डों से भिन्न देवतांश रूप में ग्रह–नक्षत्रादि की कल्पना है?

(क) सूर्यसिद्धान्त (ख) सिद्धान्ततत्त्वविवेक

(ग) सिद्धान्तशिरोमणि (घ) पंचसिद्धान्तिका

2.6 प्राकृतिक प्रलय

समग्र सृष्टि के कारणभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी रूपी पंचमहाभूतों का प्रकृति में लय प्राकृतिक लय अथवा महाप्रलय के नाम से जाना जाता है। पुराणों में तथा ज्योतिषशास्त्रीय ग्रन्थों में **''परमायुः शतं तस्य तयाहोरात्रसंख्यया''** वचन के अनुसार अपने अहोरात्र प्रमाण से ब्रह्मा की 100 वर्षों की पूर्णायु कही गई है। जो 72000 कल्प की अथवा 72000000 महायुग की सिद्ध होती है। अतः ब्रह्मा की पूर्णायु समाप्ति काल में जब स्वयं ब्रह्मा का भी नाश हो जाता है तब सभी पंचभूत जो सकल चराचर सृष्टि के कारक हैं उनका भी प्रकृति में समाहार हो जाता है। इस ब्रह्मा के पूर्णायु काल को कहीं–कहीं पुराणों में विष्णु का एक दिन भी स्वीकार किया गया है। इस प्राकृतिक प्रलय के क्रम में सकल चराचरों के साथ ब्रह्मा ब्रह्माण्ड में, ब्रह्माण्ड पंचमहाभूतों में तथा पंचभूतों में भी पृथ्वी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश अंहकार में अहंकार महत्तत्त्व में तथा पुनः महत् तत्त्व प्रकृति में समाहित हो जाते हैं– इसका प्रतिपादन आचार्य लल्ल नें भी शिष्यधिवृद्धिदम् ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक किया है। यथा–

समस्तमेतद् भुवनानि वेधसः क्षये क्षयं यान्ति विहाय शाश्वतम्।

दिनावसाने च जगत्त्रयं तथा मनुक्षये यत्पुनरत्र जायते।।

समस्तभूतानि धरादितो यथा क्रमाल्लयं यान्ति पदे निरामये।

ततः क्रमेणैव पुनस्ततोऽमुना भवन्ति सृष्टे प्रमुख तदिच्छया।।

पुनः कालान्तर में परमब्रह्म की सृष्टि सृजन की ईच्छा होने पर पुनः प्रकृति पुरुष में क्षोभपूर्वक सृष्टि की उसी पूर्वोक्त प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होती है जिसको आप सब ने सृष्टि प्रक्रिया में पढ़ा है। इसके अन्तर्गत पुनः संचित शुभाशुभ कर्मों के भोगफल की प्राप्ति हेतु प्रकृति अपने विकार रूप में पुनः परमब्रह्म की ईच्छा के अनुसार जीवों की सृष्टि करती है। जिसमें ब्रह्मा के दिवसावसान काल में जिस प्रकार ब्रह्मा के शरीर में विप्रादि वर्ण समाहित हो जाते हैं ठीक उसी प्रक्रिया से ब्रह्मा की रात्रि समाप्त होने पर ब्रह्मा के शरीर से सभी पुनः इस लोक में आ जाते हैं। इस प्रकार पहले बताए हुए दैनन्दिन प्रलय के अन्तर्गत भी जीव स्वकर्मानुसार भूलोक के अतिरिक्त जिस लोक में विद्यमान रहते हैं वे भी पुनः कर्मभोगपूर्वक उन कर्मों का नाश होने पर भूलोक में आते हैं। इसीलिए कहा गया है कि ''क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति''। क्यों कि भारतीय सनातन धर्म की मान्यता के अनुसार किसी भी जीव के द्वारा किया गया उसका शुभ या अशुभ कर्म तब तक नष्ट नहीं होता जब तक कि उसके संचित कर्मों का उसे भोगफल नहीं प्राप्त हो जाता है। चाहें इस भोगफल की प्राप्ति में अनेक बार सृष्टि–लय की प्रक्रिया का चक्रमण क्यों न करना पड़े। अतः सृष्टि का प्रलय होने के बाद भी कर्मफल प्राप्ति हेतु जीव को पुनः अवान्तर सृष्टि में उपस्थित होना पड़ता है। इसीलिए शास्त्रों में स्पष्टतया लिखा गया है कि–

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।

अवश्यमेवं भोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाशुभम्।।

इस प्रकार प्राकृतिक प्रलय के रूप में भी सृष्टि एवं विनाश की प्रक्रिया सतत् चलती रहती है। आचार्य कमलाकर भट्ट के मतानुसार किसी भी प्रलय के अन्तर्गत आकाश में विद्यमान ग्रह–नक्षत्रादि पिण्डों का विनाश नहीं होता अपितु भूपृष्ठ पर विद्यमान केवल चराचरों का ही विनाश होता है। इनके अनुसार ब्रह्माण्ड की यह सृष्टि सर्वदा अपने शाश्वत स्वरूप में विद्यमान रहती है। इसका संकेत करते हुए इन्होंने सिद्धान्ततत्त्वविवेक ग्रन्थ के मंगलाचरण में ही ''सृष्टिर्यथावस्थिता'' कहा है। पुनः अपने इस मत के सुदृढ़ीकरण तथा भास्कराचार्य के प्रलय विषयक सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कमलाकर भट्ट नें लिखा है कि–

अनीदृशं जगदीदं न कदापीति वाग्बलम्।

प्रमाणात्तल्लयभ्रान्तिं त्यज मूढानिशं ध्रुवम्।।

अर्थात् यह सृष्टि सर्वदा एक रूप में ही विद्यमान रहती है इसलिए इस ग्रहर्क्षादि के प्रलय की अवधारणा (भास्कराचार्य को) त्याग देनी चाहिए। परन्तु विष्णुपुराण एवं अन्य अनेक पुराणों के मत में जल महाभूत पृथ्वी के गन्धात्मक गुण का विनाश कर देती है जिससे गन्ध तन्मात्रा के विनाश के कारण इस पृथ्वी का भी प्राकृतिक प्रलय के अन्तर्गत विनाश हो जाता है। भारतीय दर्शन शास्त्रों में इसकी विस्तृत विवेचन उपलब्ध होती है।

2.7 आत्यन्तिक प्रलय

यह प्रलय ज्ञानाग्नि से दग्ध योगियों के लिए होता है अर्थात् योगशास्त्र के अनुसार योग का अभ्यास करने वाले योगीगण यम–नियम–आसन–प्राणायाम–धारणा– ध्यान–समाधि रूप अष्टांग योग द्वारा भोग वाली इन्द्रियों का निग्रह करके सांसारिक समस्त विषयों से अपने मन को नियन्त्रित करने से उत्पन्न आत्मज्ञान रूपी अग्नि से जन्म–जन्मान्तरों में अर्जित समस्त पाप एवं पुण्य कर्मों का विनाश कर अपने मन को केवल परमब्रह्म परमेश्वर में नियोजित करके उस परमब्रह्म से एकीकार करते हुए इस संसार के आवागमन से मुक्त हो जाते हैं इसी प्रक्रिया को योगीलय या प्रकारान्तर से आत्यन्तिक प्रलय कहा गया है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित है–

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।

मूर्ध्न्याधायाऽऽत्मनः प्राणमस्थितो योगधारणम्।।

ऊँ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।

यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखलयमशाश्वतम्।

नाऽऽप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गतिम्।।

प्रस्तुत प्रसंग में शास्त्र प्रमाणों के अनुसार जीवों के द्वारा किए गये शुभ या अशुभ किसी कर्म का तब तक विनाश नहीं हो सकता तब तक की उस कर्म के कर्त्ता जीव को उसके शुभ या अशुभ कर्म का कोई भोगफल प्राप्त न हो जाय। अतः इस कर्मभोगफल प्राप्ति हेतु किसी न किसी योनि में जीव का जन्म भी आवश्यक है इस कारण कर्मफल भोग के बिना जीव के इस सृष्टि में आवागमन की प्रक्रिया नहीं रूक सकती। इस प्रारब्ध कर्म की भोग के बिना भी नाश की सिर्फ एक ही विधि वर्णित है जिसमें योगबल से उत्पन्न ज्ञानाग्नि द्वारा अभुक्त कर्मों का भी विनाश होकर आवागमन से मुक्ति मिल जाती है तथा परमब्रह्मा के साथ एकाकार हो जाता है। इसका स्पष्ट उपदेश भगवान श्रीकृष्ण नें श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन को किया है। यथा–

यथैधांसि समिद्धोग्निर्भस्मसात्कुरुते सदा।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते सदा।।

इस प्रकार का प्रलय स्वरूप हमारे भारतीय ज्योतिषशास्त्र तथा पुराणादि में वर्णित है इसके अतिरिक्त भी भारतीय दर्शन में इसकी विस्तृत व्याख्या अनेक रूपों में की गई है।

अभ्यास प्रश्न – 2

(1) समस्त पंचमहाभूतों का विनाश किस लय में होता है?

(क) दैनन्दिन प्रलय में (ख) ब्राह्म प्रलय में

(ग) प्राकृतिक प्रलय में (घ) आत्यन्तिक प्रलय में

(2) ब्रह्मा की परमायु में कितने कल्प होते है?

(क) 01 (ख) 02 (ग) 360 (घ) 72000

(3) प्राकृतिक प्रलय के अन्तर्गत पृथ्वी का लय किस में होता है?

(क) जल में (ख) वायु में (ग) अग्नि में (घ) आकाश में

(4) ब्रह्माण्ड का विलय किसमें होता है?

(क) जल में (ख) अग्नि में (ग) पंचमहाभूतों में (घ) वायु में

(5) किसके मत में सृष्टि सदा एक रूप में बनी रहती हैं?

(क) भास्कराचार्य के (ख) कमलाकर भट्ट के

(ग) वराहमिहिर के (घ) लल्ल के

(6) योग के कितने अंग होते हैं?

(क) 01 (ख) 03

(ग) 07 (घ) 08

(7) आत्यन्तिक प्रलय किसका होता है?

(क) देवताओं का (ख) दैत्यों का

(ग) योगियों का (घ) महापुरुषों का

(8) परमब्रह्म के साथ जीव का एकीकार कब होता है?

(क) शुभाशुभ सभी प्रकार के कर्मों का क्षय होने पर (ख) कर्मकाण्ड द्वारा

(ग) पापकर्मों द्वारा (घ) शुभकर्मों द्वारा

(9) प्रकृति पुरुष में क्षोभ उत्पन्न होने की परिणति है।

(क) प्रलय (ख) सृष्टि (ग) एकीकार (घ) भोगफल

2.8 सारांश

''लयो नाम भूतविनाशः'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार समग्र चराचरों के विनाश सहित इस सृष्टि के कारणरूप पंचमहाभूतों का परमब्रह्म में समाहित हो जाना प्रलय है। परन्तु केवल पंचभूतों के विनाश की यह स्थिति ही प्रलय के रूप में नहीं जानी जाती अपितु इसके भी अनेक भेद होते हैं। परन्तु आचार्यों ने पुराणादि के प्रमाणानुसार मुख्यतया प्रलय के चार भेदों की ही विस्तृत व्याख्या की है। प्रस्तुत सन्दर्भ में पुराणादि के प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य कोई तार्किक या वैज्ञानिक प्रमाण अबतक उपस्थित नहीं हो सका है। इसलिए सृष्टि एवं प्रलय की अवधारणा भारतीय ज्ञान परम्परा में सबसे उत्कृष्ट है। भारतीय मान्यतानुसार इसके चार भेदों में प्रथम भेद ''दैनन्दिन प्रलय'' के अन्तर्गत प्रतिदिन जीवों की सृष्टि एवं विनाश होता है। द्वितीय भेद के अन्तर्गत ब्रह्मा के दिनान्त काल में भूपृष्ठ पर विद्यमान सकल चराचरों का तथा ब्रह्मा के दिवसादि में चतुर्दिक्षु योजनमात्र वृद्धि को प्राप्त इस भूपिण्ड के वृद्धिगत भाग का विनाश हो जाता है। तृतीय भेद प्राकृतिक प्रलय के अन्तर्गत ब्रह्मा की 100 वर्षों की आयु पूर्ण होने पर प्राकृतिक प्रलय उपस्थित होता है जिसमें समस्त चराचरों के साथ पंचमहाभूतों, ब्रह्मा, ब्रह्माण्ड आदि का विनाश होकर सभी पदार्थ प्रकृति में समाहित हो जाते हैं। इस क्रम में चतुर्थ प्रलय आत्यन्तिक प्रलय होता है जिसके अन्तर्गत जीव अपने शुभाशुभ कर्मों की समस्त राशि स्वाभाविक रूप समाप्त हो जाने पर में

या योगबल से प्राप्त ज्ञानाग्नि द्वारा शुभाशुभ कर्मों का विनाश कर इस आवागमन से मुक्त हो जाता है तथा परमब्रह्म परमेश्वर में समाहित हो जाता है। पुराणों में कुत्रचित् इस सम्बन्ध में मतान्तर भी प्राप्त होते हैं।

2.9 शब्दार्थ

चतुर्दिक्षु = चारों दिशाओं में।

योजन = दूरी मापने की ईकाई।

क्रोश = दूरी मापने की योजन से छोटी इकाई।

निरक्षदेश = जिन स्थानों का अक्षांश शून्य होता है उसे निरक्षदेश कहते है। ये नाड़ी वृत्त के धरातल में होते हैं।

उरु = कमर के नीचे तथा घूटने से ऊपर वाला भाग।

काश्यपी = पृथ्वी।

2.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न – 1

(1) – (क) लयो नाम भूतविनाशः

(2) – (घ) 04

(3) – (ग) प्रतिदिन

(4) – (क) ब्रह्मा के दिवसादि में

(5) – (ख) ब्राह्मलय

(6) – (ग) कल्प

(7) – (ग) उत्तरी ध्रुव पर

(8) – (ख) सिद्धान्ततत्त्वविवेक

अभ्यास प्रश्न – 2

(1) – (ग) प्राकृतिक प्रलय में

(2) – (घ) 72000

(3) – (क) जल में

(4) – (ग) पंचमहाभूतों में

(5) – (ख) कमलाकर भट्ट के

(6) – (घ) 08

(7) – (ग) योगियों का

(8) – (क) शुभाशुभ सभी प्रकार के कर्मों का क्षय होने पर

(9) – (ख) सृष्टि

2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिद्धान्ततत्त्वविवेक
2. सिद्धान्त शिरोमणि
3. शिष्यधिवृद्धिदम्
4. ज्योतिष–सिद्धान्त–मंजूषा
5. श्रीमद्भगवद्गीता
6. सूर्यसिद्धान्त
7. भारतीय दर्शन
8. श्रीविष्णुपुराण

2.12 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. प्रलय क्या है? इनके भेदों को निरूपित करें।
2. दैनन्दिन प्रलय का स्वरूप बताएं।
3. ब्राह्म लय का स्वरूप क्या है?
4. प्राकृतिक प्रलय कब और कैसे होता है?
5. आत्यन्तिक प्रलय की विवेचना करें।

इकाई - 3 विश्व, सौरपरिवार एवं पृथ्वी

इकाई की संरचना

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 विश्व का स्वरूप
3.3.1 प्रकाश वर्ष
3.4 सौर परिवार
3.4.1 सौर परिवार के ग्रह एवं उपग्रह
3.4.2 सूर्य
3.4.3 चन्द्र
अभ्यास प्रश्न – 1
3.4.4 बुध
3.4.5 शुक्र
3.4.6 मंगल
3.4.7 बृहस्पति
3.4.8 शनि
3.4.9 अरुण (यूरेनस) तथा वरुण (नेपच्यून)
अभ्यास प्रश्न – 2
3.5 पृथ्वी का स्वरूप
अभ्यास प्रश्न – 3
3.6 सारांश
3.7 शब्दावली
3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.10 निबन्धात्मक अभ्यास प्रश्न

3.1 प्रस्तावना –

प्रस्तुत इकाई एम.ए. ज्योतिष पाठ्यक्रम के द्वितीय सेमेस्टर की पत्र संख्या MAJY-505 के अन्तर्गत चतुर्थ खण्ड की तृतीय इकाई है। इसका शीर्षक है – विश्व, सौरपरिवार एवं पृथ्वी। इस इकाई के अध्ययन क्रम में आप इस विश्व, अपने सौरमण्डल तथा जिस पर हम स्थिर है इस पृथ्वी के बारे में ज्ञान प्राप्त करेंगे। जैसा कि आपनें इस पाठ की पूर्ववर्ती इकाईयों में सृष्टि–जगत् के सिद्धान्त के अन्तर्गत इस ब्रह्माण्ड के गर्भ में विद्यमान समग्र सृष्टि को जाना है वैसे ही अब आप इस इकाई में उस सृष्टि के समग्र स्वरूप के अन्तर्गत विश्व, सौर परिवार एवं पृथ्वी से परिचित होंगे क्यों कि भारतीय ज्योतिष का आधार यह सौरमण्डल एवं इस सौरमण्डल में विद्यमान ग्रह–नक्षत्रादि पिण्डों सहित यह पृथ्वी ही है। इन सबके सामंजस्य से ही हम अपने सौरमण्डल में विद्यमान ग्रह–नक्षत्रादि की गति, स्थिति आदि के द्वारा इस भूपिण्ड पर पड़ने वाले शुभाशुभ फलों का विश्लेषण करते हैं। अतः इस विश्वस्वरूप, सौरमण्डल तथा भूपिण्ड के ज्ञान के बिना ज्योतिषशास्त्र का आंशिक ज्ञान भी नहीं प्राप्त हो सकता। यह पृथ्वी जिस पर हम विद्यमान हैं उसके स्वरूप, स्थिति एवं स्थिरत्व आदि के सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही अनेक सत्यासत्य धारणाएं एवं किवदन्तियाँ लोक व्याप्त है। अतः आप इस पाठ के माध्यम से इसके वास्तविक स्थिति से परिचित होंगे तथा ज्योतिष शास्त्र के फलादेश ज्ञापक तथ्यों एवं अवयवों से भली–भाँति परिचित होकर यथा अवसर इनका उपयोग कर सकेंगे।

3.2 उद्देश्य–

इस पाठ को पढ़ने से आप–

- ✓ विश्व के स्वरूप को जान सकेंगे।
- ✓ सौरमण्डल की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ✓ सौरमण्डल में विद्यमान ग्रह–नक्षत्रादि पिण्डों की स्थिति से अवगत होंगे।
- ✓ पृथ्वी के वास्तविक स्वरूप को जान सकेंगे।
- ✓ पृथ्वी की अन्य ग्रह–नक्षत्रादि पिण्डों के सापेक्ष स्थिति से परिचित होंगे।
- ✓ ग्रहों के नवीन प्राचीन कक्षा क्रमों से परिचित होंगे।
- ✓ ग्रहों के भौतिक स्वरूप से परिचित होगे।

3.3 विश्व का स्वरूप –

संस्कृत वाङ्मय में विश्व का अति विस्तृत स्वरूप दृष्टिगत होता है। यहाँ यह शब्द

केवल विभिन्न महाद्विपों में स्थित देशों या देश समूहों के अर्थ में नहीं अपितु अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक अर्थ में समग्र ब्रह्माण्ड का द्योतक है। अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में स्थित आकाशगंगा/निहारिका (Milky Way) एवं इसके अन्तर्गत स्थित सभी सौरमण्डल तथा सभी सौरमण्डलों के अन्तर्गत विद्यमान ग्रह–नक्षत्रादि पिण्डों सहित सकल चराचरों का ही विश्व शब्द से व्यवहार किया जाता है। दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार क्षिति–जल–पावक–गगन–समीर रूपी पंच तत्त्वों से निर्मित यह विश्व ब्रह्ममय है। यहाँ ईश्वर ही विश्व है तथा विश्व ही ईश्वर है। इसीलिए उपनिषदों में "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" की मान्यता अनादिकाल से प्रथित है। भौतिक विज्ञान की मान्यता के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत निर्मित सभी पिण्डों एवं उन पर स्थित सकल चराचर विश्व शब्द से व्यवहृत हैं।

निरभ्र आकाश में हम रात्रि काल में असंख्य ग्रह–नक्षत्रादि ताराओं को देखते हैं– जो एक आकाशगंगा या निहारिका (Milky Way) के अन्तर्गत स्थित होते हैं। इसके अन्तर्गत लगभग 150 अरब तारे हैं। जिनमें कुछ सूर्य जैसे तो कुछ उससे भी बड़े तारे हैं। इस आकाशगंगा की आकृति एक पहिए के आकार की होती है जिसका व्यास लगभग 1,00,000 प्रकाश वर्ष है। चूँकि आकाशगंगा का व्यास 1,00,000 किलोमीटर है अतः आकाशगंगा के एक छोर से दूसरी छोर तक पहुंचने में प्रकाश की किरणों को एक लाख वर्ष लगते हैं। रात्रिकाल में आकाश में हमें जो चमकदार पट्टी दिखाई देती है वह भी आकाशगंगा का ही एक भाग है। हमारे नग्न चक्षु से दिखाई देने वाले सभी तारे आंकाशगंगा के ही सदस्य हैं। इसको हम मन्दाकिनी के नाम से भी जानते हैं। इस ब्रह्माण्ड रूपी विश्व में केवल यही एक मन्दाकिनी नहीं है जिसके अन्तर्गत हम लोग इस रूप में विद्यमान हैं। अपितु इस ब्रह्माण्ड में करोड़ों मन्दाकिनी हैं जिनका पता हमारे वैज्ञानिकों ने लगाया है। उन आकाशगंगाओं में भी हमारी अपनी आकाशगंगा के तरह ही अरबों तारे स्थित हैं वे सभी मंदाकिनियाँ हमसे बहुत दूर हैं। हमसे सबसे सन्निकट की मन्दाकिनी देवयानी नामक है जो यहाँ से 20 लाख प्रकाशवर्ष की दूरी पर स्थित है। इस प्रकार उपर्युक्त विषयों का अनुशीलन करने पर विश्व का यह बृहत्तम स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित होता है। इसके ठीक–ठीक ज्ञान के लिए हम संक्षिप्त रूप में प्रकाशवर्ष का भी ज्ञान प्राप्त करेंगे।

3.3.1 प्रकाश वर्ष–

प्रकाश वर्ष दूरी का निर्धारण प्रकाश की गति के आधार पर की जाती है। इस क्रम में प्रकाश की गति एक सेकेण्ड में 3,00,000 किलोमीटर की होती है। इस प्रकार प्रकाश की किरणें एक वर्ष में जितनी दूरी तय करेंगी उसे हम एक प्रकाशवर्ष के नाम से जानेंगे। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार एक प्रकाशवर्ष 94,63,00,00,00,000 किलोमीटर का होता है। आकाशगंगा के 150 अरब ताराओं में से हमारा सूर्य भी एक सामान्य श्रेणी का तारा है। जो आकाशगंगा के केन्द्र में नहीं अपितु केन्द्र से लगभग 30,000 प्रकाशवर्ष की दूरी पर स्थित

होकर अन्य तारों के साथ आकाशगंगा के केन्द्र की परिक्रमा में सतत् तल्लीन है। हमारी भारतीय ज्योतिष की **''गच्छतीति ग्रहः''** व्युत्पत्ति के अनुसार आकाश के गतिमान पिण्डों की ग्रह संज्ञा होती है। इस प्रकार हम कह सकते है कि इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत विद्यमान आकाशगंगाएं, आकाशगंगाओं में स्थित सौरमण्डल एवं सौरमण्डलों में स्थित ग्रहादि समस्त पिण्ड तथा इस पृथिवी पर विराजमान सभी चराचरों का समग्र एवं समवेत स्वरूप ही विश्व है।

3.4 सौर परिवार –

अब तक आपनें जाना है कि इस विश्व के अन्तर्गत करोड़ों आकाशगंगाएँ स्थित है। जिनमें से हमारा सूर्य भी अपनी आकाशगंगा का एक सामान्य तारा है जो अन्य ताराओं के साथ आकाशगंगा के केन्द्र की परिक्रमा करता रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से पिण्ड यहाँ विद्यमान हैं जो सूर्य की परिक्रमा करते हुए सूर्य के साथ–साथ आकाशगंगा के केन्द्र की भी परिक्रमा करते है। इन्हें हम सौरमण्डल या सौर परिवार के नाम से सम्बोधित करते हैं। इस परिवार

में मुख्यतया मंगल, बुध, आदि 8 ग्रह हैं जिनमें हमारी पृथ्वी जिस पर हम स्थिर

हैं वह भी इस सौर परिवार का एक ग्रह ही है। इन ग्रहों के अतिरिक्त इस सौरमण्डल में अनेक क्षुद्र ग्रह एवं मुख्य ग्रहों के उपग्रह भी हैं जिनमें उपग्रहों की संख्या लगभग 60 है। आधुनिक परिभाषा के अनुरूप वे सभी मुख्य पिण्ड जो सूर्य की परिक्रमा करते हैं उन्हें ग्रह कहा जाता है। पाश्चात्य भाषा में ग्रहों को प्लानेट (Planet) कहते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ भ्रमणशील होता है। क्षुद्र ग्रह भी अन्य मुख्य ग्रहों की तरह ही सूर्य की परिक्रमा करते हैं परन्तु अनुपात में इनके ग्रहों की अपेक्षा अति लघु होने के कारण ग्रह रूप में इनकी गणना नहीं है। उपग्रह उपर्युक्त इन ग्रहों में से किसी एक की परिक्रमा करते हुए अपने ग्रह के साथ–साथ सूर्य की भी परिक्रमा करते हैं। अतः उन्हें उपग्रह कहा जाता हैं चन्द्रमा भी हमारी पृथ्वी का एक उपग्रह ही है। सभी ग्रहों के अपने पृथक्–पृथक् उपग्रह होते हैं। इसके अतिरिक्त इस सौरमण्डल में धूम–केतु एवं उल्का पिण्ड भी स्थित हैं। अतः हमारे सूर्य के सापेक्ष स्थित छोटे–बड़े सभी ग्रहादि पिण्डों को सौरमण्डल या सौर परिवार के नाम से जाना जाता है।

<u>3.4.1 सौर परिवार के ग्रह एवं उपग्रह–</u>

आकाशगंगा एवं सौरमण्डल का ज्ञान प्राप्त करने के बाद अब आप सौरमण्डल के ग्रहों एवं उपग्रहों का ज्ञान प्राप्त करेंगे। जैसा कि आपने ऊपर पढ़ा है कि हमारे सौरमण्डल में आठ (8) प्रमुख ग्रह हैं। प्राचीन भारतीय मान्यताओं के अनुसार इस सौरमण्डल के ग्रहों

की संख्या 9 है परन्तु इनके स्वरूप एवं नाम में बहुत अन्तर है। हमारी भारतीय मान्यता के अनुसार इस सौरमण्डल में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि राहु एवं केतु नामक प्रमुख ग्रह हैं। इसके अतिरिक्त भी हमारे ग्रन्थों में छुद्र ग्रहादि का वर्णन प्रचूर मात्रा में प्राप्त होता है। जैसा कि आप सभी जानते हैं कि भारतीय ज्योतिषशास्त्र एक वेदांग है, जिसका परम प्रयोजन वेद विहित यज्ञादि के लिए शुभकाल का निर्देश करना तथा लोक में शुभाशुभ फल का आदेश करना है। इसीलिए भास्कराचार्य नें सिद्धान्त शिरोमणि में **''ज्योतिषशास्त्रफलं पुराणगणकैरादेश इत्युच्यते''** कहा है। अतः हमारे महर्षियों नें उस शुभाशुभ काल निदर्शन में प्रयुक्त होने वाले पिण्डों एवं बिन्दुओं की ही सौरमण्डल के अन्तर्गत विवेचना की है। अतः भारतीय मान्यता के अनुसार जिन ग्रहादि पिण्डों का इन विषयों में प्रत्यक्ष प्रभाव होता है उन्हें ग्रह की संज्ञा देकर ऋषियों नें व्यवस्था बनाई तथा राहु एवं केतु को ग्रह की श्रेणी में रखा है जबकी आचार्यों को स्पष्ट पता था और उन्होंने वर्णन भी किया है कि राहु एवं केतु ग्रह पिण्ड नहीं होकर सूर्य तथा चन्द्रमा के भ्रमण वृत्तों के सम्पात बिन्दू है, जिनका प्रयोग ग्रहण साधन हेतु किया जाता है। भारतीय आचार्यों को इस तथ्य का ज्ञान होने के बाद भी आचार्यों नें इन्हें ग्रह की संज्ञा दी जिसका अभिप्राय भ्रमणशील पिण्ड से नहीं होकर भ्रमणशील सम्पात से है। भारतीय ज्योतिष के प्रमुख आचार्यों में प्रमुख वराह मिहिर नें तो राहु और केतु को होरा स्कन्ध की फलादेश परम्परा से भी पृथक् रखा है। चन्द्रमा के इस चराचर पर विशेष प्रभाव के कारण उपग्रह होते हुए भी ग्रह की तरह माना गया है।

आधुनिक मतानुसार ग्रहों की संख्या में अनेक बार परिवर्तन हुआ है। पहले सौरमण्डल के ग्रहों की संख्या 7 (सात) थी जो कालान्तर में 9 (नव) हो गई। पुनः वर्त्तमान में आधुनिक वैज्ञानिकों नें बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, गुरु, शनि, अरुण (यूरेनस) और वरुण (नेप्चून) इन आठ को ही ग्रह माना है। अतः इनके अनुसार ग्रहों की संख्या वर्त्तमान में आठ (8) है। अब आप इस सभी का पृथक्–पृथक् संक्षिप्त परिचय प्राप्त करेंगे।

3.4.2 सूर्य–

सूर्य सौरमण्डल का प्रमुख ग्रह है। जिसे भारतीय वेद–वेदांगों की व्यवस्था में सृष्टि का कारक भी माना जाता है। **''चन्द्रऋक्षग्रहाः** सर्वे विज्ञेया सूर्यसम्भवा'' इस ब्रह्माण्ड पुराण की उक्ति के अनुसार सबका स्रष्टा सूर्य ही है। सूर्यसिद्धान्त के अनुसार सृष्टि के कारण ही इसका नाम सूर्य पड़ा जिसमें **''प्रसूत्या सूर्य उच्यते''** की व्युत्पत्ति चरितार्थ होती है। यहाँ सूर्य का ही परमब्रह्म के रूप में निरूपण है। भारतीय ज्योतिष के अनुसार इस सौरमण्डल में विद्यमान सभी ग्रह–नक्षत्रों के प्रकाश का कारण भी सूर्य ही है। अतः सूर्य के अतिरिक्त इस सौर परिवार में किसी अन्य पिण्ड में अपना स्वतः प्रकाश नहीं होता, अपितु वे सभी सूर्य प्रकाश के संपर्क से ही प्रकाशित होते हैं। पहले आपने पढ़ा है कि आधुनिक मतानुसार सूर्य

सौरमण्डल के सभी ग्रह–नक्षत्रादि के केन्द्र में है परन्तु प्राचीन मतानुसार भूकेन्द्रिक कक्षाक्रम में यह भूकेन्द्र की परिक्रमा करता हुआ पृथ्वी के ऊपर चौथी कक्षा में स्थित है। प्राचीन भूकेन्द्रिक कक्षा क्रम में सभी के केन्द्र में पृथ्वी विद्यमान है तथा सभी ग्रह–नक्षत्रादि पृथ्वी की परिक्रमा करते हैं। यहां पृथ्वी के ऊपर क्रमशः चन्द्र, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, गुरु, शनि तथा नक्षत्रों की कक्षाएँ स्थित है। आधुनिक क्रम में सूर्य के स्थान पर पृथ्वी तथा पृथ्वी के चारों ओर चन्द्रमा की कक्षा स्थित है। यह अपने भ्रमण पथ अर्थात् क्रान्तिवृत्त में भ्रमण करता हुआ 365 दिन 15 घटी 30 पल 22।30 विपल में चक्र भ्रमण करता हुआ एक चक्र की पूर्ति करता है, जिसे हम सौर वर्ष के नाम से जानते है। आधुनिक दृष्टि से पृथ्वी के सूर्य के चारों तरफ चक्र भ्रमण काल से वर्ष की पूर्ति होती है। इसके एक राशिभोग काल से सौर मास तथा अंश भोग से सौर दिन की पूर्ति होती है। वस्तुतः सभी ग्रहों का भ्रमण एक दीर्घवृत्ताकार पथ में होता है जिसके एक नाभी में सूर्य तो दूसरे में पृथ्वी स्थित है। भारतीय ज्योतिष शास्त्र में सूर्य की 24^0 क्रान्ति पढ़ी गई है जिसके द्वारा सूर्य विषुवत् रेखा से 24^0 उत्तर तथा दक्षिण में भ्रमण करता है। सम्प्रति कालजन्य प्रभाव से यह $23^027'$ ही सिद्ध हो रही है। क्यों अनुदिन परमक्रान्ति का ह्रास दिखाई दे रहा है। 21 मार्च एवं 23 सितम्बर के दिन इसकी शून्य क्रान्ति होने से यह विषुवत् वृत्त में ही भ्रमण करता हुआ दीख पड़ता है। यहां 21 मार्च से 22 सितम्बर तक सूर्य की उत्तरा तथा 23 सितम्बर से 20 मार्च तक दक्षिणा क्रान्ति होती है। सूर्य अपनी कक्षा में भ्रमण करता हुआ मेषादि बिन्दू से उत्तर गोल, कर्कादि से दक्षिणायन, तुलादि से दक्षिण गोल तथा मकरादि से उत्तरायण में प्रवृत्त होता है। अपनी कक्षा अर्थात् क्रान्ति वृत्त में इसकी दैनिक मध्यमा गति 59।8 कलादि होती है जिसके द्वारा यह एक महायुग में 43,20,000 भगणों को पूर्ण करता है। भारतीय ज्योतिष के अनुसार इसकी कक्षा का प्रमाण 4331497.5 योजन तथा भूकेन्द्र से सूर्य कक्षा की उच्छ्रिति 689377 योजन है। इसके बिम्ब का व्यास 6522 योजन है। पिण्डों के मान परिणाम को आचार्यों नें योजनमान की भिन्नता के कारण पृथक्–पृथक् पढ़ा है।

3.4.3 चन्द्र–

आधुनिक मतानुसार सौरमण्डल में सभी ग्रहों के अपने–अपने उपग्रह होते हैं जिनकी कुल संख्या लगभग 60 है। सभी उपग्रह अपने ग्रह की तुलना में काफी छोटे होते हैं तथा अपने ग्रह की परिक्रमा करते हुए उनके साथ सूर्य के केन्द्र की भी परिक्रमा करते रहते हैं। चन्द्रमा भी पृथ्वी का एक मात्र उपग्रह ही है। यद्यपि सौरमण्डल में अन्य कई उपग्रह आकार–प्रकार में इससे बड़े है परन्तु यह एक विशेष उपग्रह है। क्यों कि यह सूर्य के साथ भूपृष्टस्थ जनों को सर्वाधिक चमत्कृत एवं प्रभावित करता है। इसीलिए भारतीय ज्योतिष की परम्परा में चन्द्रमा को ग्रह की श्रेणी में ही रखा गया है। शुभाशुभ फल का आदेश भारतीय ज्योतिष का मुख्य प्रयोजन होने के कारण चन्द्रमा इस परिधि में सबसे अधिक प्रभावी होता है। भार की दृष्टि से पृथ्वी चन्द्र से 81 गुणा अधिक भारी है तथा

उसका व्यास पृथ्वी के व्यास का चौथाई है। पृथ्वी से चन्द्रमा की औसत दूरी 3,74,400 किमी है। चन्द्रमा जिस कक्षा में घूमता है उसे चन्द्र विमण्डल के नाम से जाना जाता है। यह चन्द्र विमण्डल क्रान्ति वृत्त ये 270′ कला उत्तर एवं दक्षिण की ओर अन्तरित होता है जिसे चन्द्रमा का परम शर कहते हैं। यह अपनी कक्षा में भूमि के चारों तरफ घूमते हुए सवा दो दिन में राशि तथा 27/20 दिनादि में चक्र भ्रमण (भगण) पूर्ण करता है। इसकी दैनिक मध्यमा गति 790′।35′′ विकला है। इस मध्यम गति से घूमते हुए यह एक युग में 57753336 भगणों को पूर्ण करता है। मध्यम मान से एक चान्द्र मास में 29।31।50 तथा चान्द्रवर्ष में 354।22।00 दिवसादि होते हैं। भारतीय मान्यतानुसार भूकेन्द्र से 51566 योजन दूरी पर चन्द्र कक्षा स्थित है जिसका प्रमाण 324000 योजन है। इसके बिम्ब का व्यास मान सूर्यसिद्धान्त के अनुसार 480 योजन है।

आधुनिक वैज्ञानिक चन्द्रमा की अनेक यात्राएं कर चुके हैं उनके अनुसार चन्द्र पृष्ठ पर हवा एवं पानी का अभाव है। इसके सतह पर बड़े–बड़े गड्ढे तथा ऊँचे–ऊँचे पर्वत है। चन्द्रमा का जो भाग हमें दिखाई देता है उस भाग में दिन का तापमान 130 डिग्री सेल्सियस एवं रात्रि का तापमान ऋण 150^0 तक हो जाता है। यह पिण्ड अपने अन्दर अनेक विलक्षणताओं को धारण किए है।

अभ्यास प्रश्न – 1

1. विश्व किसे कहते हैं?

(क) समग्र पृथ्वी को

(ख) पृथ्वी पर स्थित देशों के समूह को

(ग) निहारिका को

(घ) ब्रह्माण्ड में स्थित सकल पिण्ड एवं उनपर स्थित चराचरों को

2. ब्रह्माण्ड में कितनी आकाशगंगाएं हैं?

(क) 09 (ख) 12 (ग) 1000 (घ) असंख्य

3. आधुनिक मत में सभी ग्रह–नक्षत्रादि के केन्द्र में है–

(क) सूर्य (ख) पृथ्वी (ग) चन्द्रमा (घ) मंगल

4. प्राचीन मतानुसार ग्रह–नक्षत्रादि का केन्द्र है–

(क) सूर्यकेन्द्र (ख) भूकेन्द्र (ग) चन्द्रकेन्द्र (घ) भौमकेन्द्र

5. आकाशगंगा का व्यास मान है–

(क) 1000 किमी (ख) 100000 किमी

(ग) 1 प्रकाशवर्ष (घ) 100000 प्रकाशवर्ष

6. प्रकाश की गति प्रति सेकेण्ड कितनी होती है?

(क) 1000000 किमी (ख) 3000000 किमी (ग) 30000 किमी (घ) 100000 किमी

7. आधुनिक मत में ग्रहों की वर्त्तमान संख्या है–

(क) 07 (ख) 08 (ग) 09 (घ) 10

8. भारतीय ज्योतिष में पिण्डस्वरूप ग्रह कितने हैं?

(क) 07 (ख) 08 (ग) 09 (घ) 06

9. सूर्य किस वृत्त में भ्रमण करता है?

(क) विकदम्ब में (ख) क्रान्तिवृत्त में (ग) विषुववृत्त में (घ) विमण्डल में

10. सूर्य की मध्यमा गति है–

(क) 60 कला (ख) 59 ।8 कलादि (ग) 61 कला (घ) 59 ।9 कलादि

3.4.4 बुध–

भारतीय ज्योतिष के अनुसार बुध पंचतारा ग्रहों के अन्तर्गत एक ग्रह है। जो भूकेन्द्रिक गणना में भूकेन्द्र से तीसरी वृत्ताकार कक्षा में स्थित होकर भ्रमणशील है। संस्कृत वाङ्मय में इसे बुध, शशिज, तारापुत्र, सोमपुत्र, ज्ञ, बोधन, विबुध, कुमार, सौम्य, रौहिणेय एवं राजपुत्र इत्यादि नामों से जाना जाता है। ज्योतिषशास्त्रानुसार क्रान्तिवृत्त से 60 कला परम शरान्तर में इसका भ्रमण पथ परिवर्तित होता रहता है। इसकी मध्यम गति सूर्य के तुल्य ही 59′ ।08 कलादि है जिससे यह महायुग में 43,20,000 भ्रमण पूर्ण करता है। इसकी कक्षा भूकेन्द्र से 164945 योजन दूर है जिसका प्रमाण 4331500 योजन है। सूर्यसिद्धान्तानुसार बुध का चन्द्रकक्षा में परिणत बिम्बमान 45 योजन तथा कमलाकर के अनुसार स्वकक्षागत बिम्बमान $144\frac{1}{10}$ योजन है। बुध सूर्य के अनुचर की तरह सर्वदा उसके साथ ही कुछ आगे या कुछ पीछे स्थित रहता है। अतः सूर्योदय काल के आसन्न पूर्व में तथा सूर्यास्तासन्न काल में पश्चिम में देखा जा सकता है। आधुनिक मतानुसार बुध पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य का आसन्नवर्ती ग्रह हैं जिसको सूर्यासन्न प्रकाश के कारण कठिनतापूर्वक पहचाना जा सकता है। ''मर्क्यूरी'' (Mercury) बुध का यूनानी नाम है जो आज कल अंग्रेजी में भी प्रयुक्त होता है। यह यूनानियों के एक देवता का नाम है। यहां पृथ्वी जैसा वायुमण्डल नहीं होने से जीवन सम्भव नहीं है। इसके एक गोलार्द्ध का तापमान 400^0 सेंटीग्रेड तो दूसरे गोलार्द्ध का शून्य के नीचे 200^0 सेंटीग्रेड तक हो जाता है। यह आकृति में पृथ्वी से बहुत ही छोटा एवं हल्का है। बुध के बिम्ब का व्यासमान 4850 किमी. है। बुध से सूर्य की न्यूनतम दूरी 460

लाख किमी. तथा अधिकतम दूरी 700 लाख किमी. है। यह लगभग 88 दिनों में ही सूर्य की एक परिक्रमा पूर्ण कर लेता है। कुछ आधुनिक विद्वानों के मतानुसार यह लगभग इतने ही दिनों में अपना अक्षभ्रमण भी पूर्ण कर लेता है। इसके प्रभाव से बुध का एक गोलार्द्ध सर्वदा सूर्य के सामने तथा दूसरा परोक्ष में रहता है। जिससे एक गोलार्द्ध में हमेशा दिन तो दूसरे गोलार्द्ध में रात्रि बनी रहती है।

3.4.5 शुक्र–

सौरमण्डल के ग्रहों में शुक्र एक सर्वाधिक प्रकाशवान ग्रह है। इसके विषय में हमारे पूर्वजों एवं महर्षियों को बहुत प्राचीन काल से ही विस्तृत ज्ञान था। इसीलिए शुक्र के वर्णन प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता है कि **''स एव शुक्रः यो हि चमत्कृतः सर्वाधिकः''** अर्थात् जो सबसे चमकदार है वही शुक्र है। यह भी सतत् सूर्य के अनुचर की तरह ही उसके आसन्न ही रहता है इसीलिए सूर्योदय एवं सूर्यास्तासन्न में इसे भी आसानी से देखा जा सकता है। ग्रहों की श्रेणी में यह भी पंचतारा ग्रहों के अन्तर्गत एक ग्रह है जो भूकेन्द्रिक गणना क्रम में भूकेन्द्र से चौथी कक्षा में स्थित है। इसे सित, भृगु, भृगुपुत्र, दैत्यमन्त्री, उशना, काव्य, अस्फुजित, शतपर्वेश, षोडशार्चिः, मघाभूः, वेन, कवि इत्यादि नामों से जाना जाता है। सूर्योदयासन्न में आसानी से दृष्ट होने के कारण लोकभाषा में इसे 'भोर का तारा' भी कहा जाता है। रोमन भाषा में इसे वीनस (Venus) कहा जाता है जिसका अर्थ सौन्दर्य की देवी है। वीनस शब्द संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त शुक्र के 'वेन' नाम से काफी सन्निकट प्रतीत होता है। इसका यूनानी नाम 'कुप्रिस' है। यह क्रान्तिवृत्त से 120^0 कला तक उत्तर और दक्षिण दिशा में अन्तरित होकर अपनी कक्षा में भ्रमण करता है। इसकी भी मध्यम गति बुध और सूर्य के तुल्य (59 |8) पठित है जिससे यह महायुग में 43,20,000 भगणों को पूर्ण करता है। भूकेन्द्र से यह 421316 योजन दूर 4331500 योजन की अपनी कक्षा में भ्रमण करता है। सूर्यसिद्धान्तानुसार इसका चन्द्रकक्षा में परिणत बिम्बमान 60 योजन तथा कमलाकर के अनुसार स्वकक्षा में 468.48 योजन बिम्ब प्रमाण है।

आधुनिक सिद्धान्तानुसार शुक्र बुध के अनन्तर सूर्य का सबसे आसन्नवर्ती ग्रह है। पृथ्वी से इसकी दूरी 380 लाख किमी. तथा सूर्य से 1082 लाख किमी. है। यह 225 दिनों में सूर्य की परिक्रमा पूर्ण करता है। शुक्र आकार प्रकार में पृथ्वी के समान ही है। इसका व्यासमान 12100 किमी. है तथा यह 243 दिनों में स्वाक्षभ्रमण करता है। शुक्र भी हमारी अपेक्षा सूर्य के अधिक आसन्न है इसलिए वहां हमारी अपेक्षा ढ़ाई गुना अधिक सूर्य की ऊर्जा मिलती है। शुक्र के सतह का तापमान विद्वानों नें 400^0 सेंटीग्रेड से अधिक आंकलित किया है। अमेरिका, रूस आदि अनेक देश मानवरहित अंतरिक्षयान शुक्र की तरफ भेज चुके हैं। यहां के वायुमण्डल में 90–95 प्रतिशत कार्बन–डाई–ऑक्साइड गैस तथा स्वल्प मात्रा में नाइट्रोजन, जलवाष्प तथा अन्यान्य तत्त्व निहित हैं। पृथ्वी से बहुशः समानता के कारण

वैज्ञानिकों ने सोचा था कि चन्द्रमा के बाद यहां जाना सम्भव होगा परन्तु शुक्र ग्रह की विचित्रता के कारण अब तक मनुष्य का वहां जाना सम्भव नहीं हो सका है।

3.4.6 मंगल–

अब तक आपने सौरमण्डल के अध्ययन क्रम में सूर्य, चन्द्र, बुध तथा शुक्र का अध्ययन किया है। अब आप इस क्रम में मंगल के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करेंगे। भारतीय वाङ्मय में मंगल का महत्त्व प्राचीन काल से ही विश्रुत है। संस्कृत वाङ्मय में इसे भौम, धरासुत, महिज, कुज, क्षितिसुत, अंगारक, आर इत्यादि अनेक नामों से जाना जाता है। सृष्टि प्रक्रिया में पंचमहाभूतों की उत्पत्ति के बाद तेजस तत्त्व से भौम की उत्पत्ति वर्णित है। भारतीय ज्योतिष शास्त्र की भूकेन्द्रिक गणना परम्परा में यह पृथ्वी के ऊपर पाँचवी कक्षा में स्थित होकर भ्रमण करता है। परन्तु आधुनिक मत से मंगल बाह्य कक्षावर्ती ग्रहों में सूर्य एवं पृथ्वी का समीपवर्ती ग्रह है जो रक्त वर्ण का होने के कारण सरलतापूर्वक आकाश में चिह्नित हो जाता है। प्राचीन परम्परा के अनुसार यह भौम विमण्डल नामक कक्षा में स्थित होकर क्रान्तिवृत्त से उत्तर एवं दक्षिण में 90 कला तक अन्तरित होता है। अपनी कक्षा में यह 31।26 कलादिक मध्यम गति से लगभग डेढ़ मास में राशि का भोग करता हुआ एक महायुग में 2296832 भगणों को पूर्ण करता है। इसकी कक्षा कमलाकर के मतानुसार भूकेन्द्र से 1288139 योजन दूरी पर स्थित है जिसकी परिधि 8146901 योजन है। चन्द्रकक्षा में परिणत बिम्बमान 30 योजन तथा स्वकक्षा में 754 $\frac{1}{3}$ योजन पठित है। आधुनिक मत में मंगल ग्रह पर सोवियत संघ, अमेरिका एवं भारत नें अनेक स्वचालित अंतरिक्षयान प्रेषित किये है जिससे उसके अध्ययन में काफी सहायता मिली है। मंगल की सतह पर विशेषकर दक्षिणी गोलार्द्ध में बड़े–बड़े खड्डे एवं ज्वालामुखी हैं। इनमें 'हेलास' नामक खड्डा 2000 किमी. चौड़ा तथा लगभग 4 किमी. तक गहरा है। यहाँ सबसे बड़ी ज्वालामुखी 'मेन्स अलंपस' नामक है जिसकी ऊँचाई 24 किमी. है। मंगल की सतह पर वायुमण्डल बहुत ही कम अर्थात् पृथ्वी से 160 गुना कम है जिससे वहाँ जन–जीवन संभव नहीं प्रतीत होता, परन्तु कुछ आधुनिक विद्वान मंगल ग्रह पर जीवन की संभावना से इन्कार नहीं करते। पृथ्वी की तरह इसके भी दो ध्रुव हैं यहां दिन का तापमान 22^0 तथा रात्रि का शून्य से नीचे 70^0 तक पहुँच जाता है। इसके 'फोबोस' एवं 'डिमोस' नामक दो उपग्रह हैं जिसमें फोबोस का व्यास डिमोस से बड़ा है। सूर्य से मंगल की अधिकतम दूरी विद्वानों ने 227940000 किमी. स्वीकार किया है।

3.4.7 बृहस्पति–

बृहस्पति हमारे सौरमण्डल का सबसे बड़ा ग्रह है। इसीलिए इसे गुरु भी कहा जाता है। संस्कृत वाङ्मय में इसके गुरु, इज्य, देवगुरु, अंगिरस, बृहत्तेज, जीव, वागीश आदि

नामान्तर प्राप्त होते हैं। भारतीय ज्योतिषशास्त्र के भूकेन्द्रिक गणना में यह पृथ्वी से सातवीं कक्षा में स्थित ग्रह है जिसकी अवलोकन परम्परा अति प्राचीन काल से वैदिक वाङ्मय में दृष्टिगत होती है। सूर्यसिद्धान्तानुसार सृष्टि प्रक्रिया में पंचमहाभूतों में से आकाश तत्त्व द्वारा बृहस्पति की उत्पत्ति बताई गई है। भारतीय ज्योतिष के अनुसार यह अपने विमण्डल में भ्रमण करता हुआ क्रान्ति वृत्त से 60^0 कला परमशरान्तर तुल्य उत्तर एवं दक्षिण में भ्रमण करता है। भूकेन्द्र से 8123221 योजन दूर स्थित इसकी कक्षा का प्रमाण 51375764 योजन है जिसमें यह 5 कला की मध्यम दैनिक गति से घूमता हुआ एक वर्ष में राशि तथा एक महायुग में 364330 भगणों को पूर्ण करता है। सूर्यसिद्धान्तानुसार इसका चन्द्रकक्षा में परिणत बिम्बमान 52.5 योजन तथा कमलाकर के अनुसार स्वकक्षागत बिम्ब प्रमाण $8324\frac{3}{4}$ योजन है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी बृहस्पति इस सौरमण्डल का सबसे बड़ा ग्रह है जो पृथ्वी से 1300 गुना बड़ा तथा 318 गुना भारी है। यूनानी भाषा में इसे ज्यूपीटर कहा जाता है जो यूनानियों के एक देवता का नाम है। सूर्य से इसकी औसत दूरी 78 करोड़ किलोमीटर तथा पृथ्वी से 15 करोड़ किलोमीटर है। लगभग 13 किमी. प्रति सेकेण्ड की गति से सूर्य की एक परिक्रमा करने में लगभग 12 वर्ष लगते है। विषुववृत्त पर इसका व्यास 1,42,880 किमी. तथा ध्रुवीय व्यास 13,35,480 किमी. है। यह अपनी धूरी पर 10 घण्टे में ही एक बार घूम जाता है। अतः कोई व्यक्ति बृहस्पति पिण्ड पर हो तो उसका दिन मात्र 10 घण्टे का ही होगा। वैज्ञानिकों नें बृहस्पति के कुल 16 उपग्रह खोजे हैं। जो एलमथिआ, ईओ, यूरोपा, गयनीमिड, कैलिस्टो, लीडा, हिमालि, लाइसिथिआ, एलारा, एनानकी, कारमे, पासोफे, सिनोपे, थैबे, एडास्ट्रिया और मैटिस नाम से प्रसिद्ध हैं। बृहस्पति पिण्ड के सतह का गुरुत्वाकर्षण पृथ्वी की तुलना में 2.35 गुना अधिक है। इसकी कक्षीय उत्केन्द्रता 0.048 तथा अवनतता 1^0।18 कला है। बृहस्पति ग्रह के सतह पर जो वायुमण्डल है उसमें मुख्यतया हाइड्रोजन, मीथेन, एनोनिया, हीलियम आदि प्रमुख हैं। विदित हो कि ये सभी गैसें विषैली होती हैं। अतः बृहस्पति पर जाने के लिए अपने साथ ऑक्सीजन सिलेण्डर ले जाना होगा तथा वहां जाकर 60 किलो. सिलेण्डर का वजन 140 किलो. हो जाएगा। यह सूर्य से जितनी ऊर्जा अवशोषित करता है उससे अधिक विकिरण के माध्यम से उत्सर्जित भी करता है। नवीन शोधों से यह भी पता चला है कि बृहस्पति के चारो तरफ शनि की तरह परन्तु शनि की अपेक्षा कम घने आकर्षक वलय हैं। वैज्ञानिकों नें अब तक के शोध से यह सम्भावना व्यक्त की है कि बृहस्पति पर मानव के पहुँचने से पूर्व उसके किसी चन्द्र पर पहुँचकर वहां से गुरु का विस्तृत अध्ययन करके ही बृहस्पति पर जाना सम्भव हो सकेगा।

3.4.8 शनि–

हमारे सौरमण्डल के सभी ग्रहों में शनि सबसे प्रसिद्ध ग्रह है जिसके विषय में अनेक

आख्यान इस लोक में वर्णित हैं। संस्कृत वाङ्मय में इसे सौरि, शनैश्चर, पंगु, सूर्यसुत, अनिल, मन्द, असित, पीतांगी, छायापुत्र, काल, यम, असिताम्बर आदि नामों से जाना जाता है। सूर्यादि ग्रहों में यह भूकेन्द्रिक गणना क्रम के अनुसार आंठवी सबसे ऊपरी ग्रह कक्षा में स्थित एक तारा ग्रह है। अपने कक्षा में यह अन्य ग्रहों के तुल्य ही योजनात्मिका गति से भ्रमण करते हुए भी कोणीय अनुपात से सभी ग्रहों की अपेक्षा स्वल्प कलात्मिका गति से भ्रमण करके **''शनैश्चलतीति शनैश्चरः''** इस व्युत्पत्ति के अनुसार अपने शनैश्चर नाम को सार्थक करता है।

भारतीय दार्शनिक सृष्टि सिद्धान्तानुसार पंचमहाभूतों के अन्तर्गत वायु तत्त्व से इसकी उत्पत्ति सूचित है। यह शनि विमण्डल नामक अपनी कक्षा में क्रान्तिवृत्त से उत्तर एवं दक्षिण 120^0 कला (परमशर) तुल्य अन्तरित होकर 2 कला की दैनिक कलात्मिका मध्यमा गति से अपनी कक्षा में भ्रमण करता हुआ 30 मास में राशि तथा 30 वर्षों में एक भगण का भोग करता है जिससे एक महायुग में इसके 14658 भगण तथा 158291230 सावन दिन होते हैं। कमलाकर भट्ट के अनुसार पृथ्वी से 20186123 योजन दूरी पर स्थित शनि की कक्षा का परिधि प्रमाण 127668255 योजन है। इसके बिम्ब का प्रमाण स्वकक्षा में $1776\frac{5}{12}$ योजन तथा चन्द्रकक्षा में परिणत होकर 37.5 योजन सिद्ध होता है।

आधुनिक मतानुसार भी शनि प्राचीनोक्त सूर्यादि सात ग्रहों में सौरमण्डल का सबसे अकर्षित ग्रह है जो इनमें सर्वाधिक स्वल्प गति वाला और सबसे दूर स्थित है। यद्यपि आधुनिक ग्रहों में यूरेनस आदि ग्रह इससे भी दूर एवं मन्दगतिक हैं परन्तु भारतीय प्राचीन ग्रह गणना में इनको समाहित नहीं किया गया है। क्यों कि भारतीय ज्योतिष का मुख्य प्रयोजन शुभाशुभ निरूपण है परन्तु ये ग्रह वर्षों तक एक ही राशि में स्थित रहते हैं जिससे इनका कोई सूक्ष्म प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता है। यह सौरमण्डल का बृहस्पति के बाद दूसरा सबसे बड़ा ग्रह है जो हमारी पृथ्वी से लगभग 750 गुना बड़ा है, परन्तु इसका भार पृथ्वी का 95 गुना ही है, क्यों कि शनि की द्रव्य राशि का घनत्व बहुत कम है। यह सौरमण्डल में सबसे कम धनत्व वाला ग्रह है। इसके बिम्ब का विषुवत् वृत्तीय व्यास मान 120500 किमी. तथा ध्रुवीय व्यास मान 106900 किमी. है। इसकी दीर्घवृत्तीय कक्षा का मध्यम कर्ण मान 886000000 क्रोशार्ध है। सूर्य से शनि की औसत दूरी 143 करोड़ किमी. है यह प्रति सेकेण्ड 9.6 किमी. की मध्यम गति से लगभग 30 वर्षों में सूर्य का चक्कर लगाता हुआ राशि चक्र का भोग करता है। इसका अक्षभ्रमण लगभग 10 घण्टा 40 मिनट में होता है। अतः शनि का एक वर्ष उसके अपने लगभग 25,000 दिनों के तुल्य होगा। शनि ग्रह सूर्य से हमारी तुलना में करीब दस गुना अधिक दूर है जिससे शनि ग्रह तक सूर्य का ताप बहुत कम (पृथ्वी का लगभग 100वां हिस्सा) पहुँच पाता है इसलिए शनि के वायुमण्डल का

तापमान शून्य से 150^0 सेंटीग्रेड नीचे रहता है, यह एक अत्यन्त ठण्डा ग्रह है। इस पिण्ड में भी बृहस्पति की तरह हाइड्रोजन, हीलियम, गैस पदार्थ तथा कुछ मिथेन–अमोनिया गैस है। इसके मुख्यतया 21 उपग्रह हैं जिसमें ''टिटास'' नाम उपग्रह सबसे बड़ा है। टिटास उपग्रह का परिमाण लगभग बुध ग्रह के तुल्य है। 'टिटास' को टाइसन भी कहते हैं। यह सौरमण्डल का सबसे बड़ा उपग्रह है।

3.4.9 अरुण (यूरेनस) तथा वरुण (नेपच्यून)–

यद्यपि भारतीय ग्रह गणना क्रम में अरुण (यूरेनस), वरुण (नेप्चून) का ग्रहण नहीं होता, परन्तु आधुनिक मतानुसार ये दोनों भी अपने सौरमण्डल के ग्रह हैं। कुछ दशक पूर्व तक प्लूटो (यम) को भी आधुनिक वैज्ञानिकों नें ग्रह की श्रेणी में रखा था परन्तु बाद में उसे सौरमण्डल के ग्रहों की श्रेणी से बाहर कर दिया गया। ये तीनों विगत दो सौ वर्षों में ही अन्वेषित किए गए ग्रह हैं। यूनानी आख्यानों के अनुसार यूरेनस शनि के पिता तथा बृहस्पति के पितामह हैं। हर्शेल नामक वैज्ञानिक नें यूरेनस ग्रह का खोज किया था। यह सौरमण्डल का तीसरा सबसे बड़ा ग्रह है। इसके बिम्ब का व्यास 48 हजार किलोमीटर है। इसका औसत धनत्व 1.5 तथा भार पृथ्वी के लगभग 15 गुना है। यूरेनस पृथ्वी से सूर्य की अपेक्षा 19 गुना अधिक लगभग 287 करोड़ किमी. औसत दूर है। यह लगभग 7 किमी. प्रति सेकेण्ड की मध्यम गति से लगभग 84 वर्षों में सूर्य की एक परिक्रमा करता हुआ राशि चक्र का भोग करता है। यह अपनी धूरी पर 11 घण्टे में ही घूम जाता है। वैज्ञानिक लोग अरुण में भी बृहस्पति एवं शनि की तरह कुछ साम्यता देखते हैं। यहां पर भी सूर्य की किरणें बहुत स्वल्प मात्रा में पहुँचती हैं जिससे यहाँ तापमान सर्वदा 200^0 सेंटीग्रेड के नीचे ही रहता है। यहां के वायुमण्डल में मुख्यतया मीथेन व हाइड्रोजन गैसे हैं। अब तक यूरेनस के 17 उपग्रहों का पता चला है जिसमें सबसे बड़ा ''टाइटानिया'' है। टाइटानिया का व्यास लगभग 1700 किमी. है। अतः उससे हमारा चन्द्रमा लगभग दो गुना बड़ा है।

यूरेनस का पता लगने के बाद खगोलशास्त्रियों ने यूरेनस की कक्षा निर्धारित की और उसके निर्धारण में गुरु तथा शनि जैसे ग्रहों के प्रभाव पर भी ध्यान रखा परन्तु उन लोगों नें कुछ समय बाद देखा कि यूरेनस अपनी निर्धारित स्थिति से अन्यत्र दिख रहा है जबकि हमारी प्रक्रिया पूर्णतः ठीक है। तब उन लोगों ने ध्यान दिया कि इसके अतिरिक्त भी कोई ग्रह हो सकता है जो यूरेनस को प्रभावित कर स्थानान्तरित कर रहा है और इसी आधार पर फ्रांस के खेगोलविद् लवेरिस ने इसकी गणना कर इसके प्रत्यक्षीकरण के लिए वर्लिन के खगोलविद् प्रो. जोहान गाल्ले को प्रेरित किया और प्रो. गाल्ले ने यह सिद्ध किया कि यूरेनस के अतिरिक्त भी कोई ग्रह है जो उसे प्रभावित कर रहा है। इस नये ग्रह का वैज्ञानिकों नें नेपच्यून (वरुण) नाम दिया। रोमन आख्यानों के अनुसार नेपच्यून सागरों का देवता है। भारतीय संस्कृति में सागरों के देवता वरुण है इसलिए उसे हम वरुण नाम से भी

जानते हैं।

नेपच्यून ग्रह भी आकार–प्रकार में यूरेनस जैसा ही प्रतीत होता है। यह सौरमण्डल का आठवां ग्रह है जो सूर्य से 450 करोड़ किमी. की औसत दूरी पर स्थित होकर 5.4 किमी. प्रति सेकेण्ड की गति से 165 वर्षों में सूर्य की एक परिक्रमा करता हुआ राशि चक्र को पूर्ण करता है। यह ग्रह 15 घण्टे 48 मिनट में अपनी धूरी पर एक भ्रमण पूर्ण कर लेता है। इसके बिम्ब का व्यास 45 हजार किमी. है जो पृथ्वी से लगभग 3.5 गुना बड़ा है परन्तु इसका भार पृथ्वी से 17 गुना ज्यादा है। नेपच्यून के चौदह उपग्रह अन्वेषित हो चुके हैं। नेपच्यून के वायुमण्डल में मीथेन व हाइड्रोजन है। इसके एक उपग्रह का नाम ''ड्राइटन'' है जो हमारे चन्द्र से कुछ बड़ा है। यह सौरमण्डल का सबसे भारी उपग्रह है। अतः वैज्ञानिकों ने वहाँ वायुमण्डल की सम्भावना जताई है।

इसके अतिरिक्त भी प्लूटो (यम) नामक ग्रह का अन्वेषण किया गया जिसे कालान्तर में वैज्ञानिकों ने लक्षण के अनुसार ग्रह की श्रेणी से अलग कर दिया। सौरमण्डल में इसके अतिरिक्त भी अनेक उपग्रह, उल्का पिण्ड, धूम केतु आदि विद्यमान हैं जिनके बारे में हमारे भारतीय ज्योतिष तथा पाश्चात्य पद्धति में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।

अतः आप उपर्युक्त विषयों का ज्ञान प्राप्त कर आगे भी इसके ज्ञान विस्तार तथा शोधकार्य में प्रवृत्त हो सकेंगे।

अभ्यास प्रश्न – 2

1. सौरमण्डल के उपग्रहों की संख्या कितनी है?

(क) 09 (ख) 08 (ग) 100 (घ) 60

2. चन्द्रमा किस वृत्त में घूमता है?

(क) क्रान्तिवृत्त (ख) चन्द्रविमण्डल (ग) विषुववृत्त (घ) मृगांग परिधि

3. भार की दृष्टि से पृथ्वी चन्द्र से कितनी भारी है?

(क) 81 गुणा (ख) 100 गुणा (ग) तीन गुणा (घ) दो गुणा

4. आधुनिक मतानुसार ग्रहों की संख्या कितनी है?

(क) 09 (ख) 07 (ग) 08 (घ) 10

5. भारतीय ज्योतिष में क्रान्ति–चन्द्रविमण्डल के सम्पात रूप ग्रह है।

(क) सूर्य (ख) राहु (ग) धूम (घ) उल्का

6. भूकेन्द्र से 164945 योजन दूर किस ग्रह की कक्षा है?

(क) मंगल (ख) बुध (ग) गुरु (घ) शुक्र

7. एक सौर वर्ष में कितने दिन होते है?

(क) 365.25 (ख) 360 (ग) 354 (घ) 374

8. नेपच्यून का दिन्दी नाम क्या है?

(क) अरुण (ख) वरुण (ग) यम (घ) कराला

9. भोर का तारा कौन है?

(क) शुक्र (ख) गुरु (ग) मंगल (घ) चन्द्र

10. शनि कितने वर्षों में चक्र भ्रमण करता है?

(क) 10 वर्ष में (ख) 20 वर्ष में (ग) 30 वर्ष में (घ) 60 वर्ष में

3.5 पृथ्वी का स्वरूप–

अब तक आप लोगों नें सौरमण्डल के अन्तर्गत विद्यमान सूर्य एवं चन्द्रमा आदि का ज्ञान प्राप्त किया अब आप पृथ्वी के विषय में जानेंगे। इस सौरमण्डल के ग्रह, उपग्रह, धूम–केतु आदि की तरह पृथ्वी भी एक पांचभौतिक पिण्ड है जिसे भू, भूवि, क्षोणी, अवनी, क्षिति, वसुन्धरा, काश्यपी आदि नामों से जाना जाता है। **''भवन्ति भूतानि अस्याम्''** इस व्याकरणशास्त्रीय व्युत्पत्ति के अनुसार इसी के ऊपर चराचर जीव उत्पन्न होते हैं। अतः इसे भूमि कहते हैं। यद्यपि समस्त संस्कृत वाङ्मय में ही इसके सन्दर्भ में चर्चा प्राप्त होती है परन्तु भारतीय ज्योतिष में इसके आकार, स्वरूप, स्वभाव एवं गुणादि के विषय में विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। क्यों कि यह पिण्ड ही सबका आधारभूत है। दर्शन शास्त्र के अनुसार गन्ध इसका मुख्य लक्षण है। इसके अतिरिक्त स्थिरता, गुरुता, कठिनता, प्रसवार्थता, गन्धी, गुरुत्वशक्ति, संघात, स्थापना एवं धृति आदि इसके मुख गुण हैं। सूर्यसिद्धान्त के **''मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति। विभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो**

धारणात्मिकाम्।।'' इस उक्ति के अनुसार यह गोलाकार पृथ्वी इस ब्रह्माण्ड के मध्य भाग में परमब्रह्म की धारणात्मिका शक्ति को धारण किए हुए स्थिर है। इसके ऊपर क्रमशः चन्द्र, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, शनि और नक्षत्रों की कक्षाएं हैं। इसके पृष्ठ भाग पर चारों ओर ग्राम, वन, उपवन, पर्वतादि कदम्बपुष्प पर स्थित केसर की तरह हैं। इस भूपृष्ठ पर जो व्यक्ति जहां स्थित होता है वह अपने को सबसे ऊपर स्थित हुआ मानता है। भूमि की मध्यम परिधि 4967 योतन तथा व्यास 1581 योजन पठित है। सिद्धान्त ग्रन्थों में भूपरिधि एवं व्यास के मानों में अन्तर दिखाई देता है परन्तु वह योजन प्रमाणों के अन्तर से है। भारतीय ज्योतिष शास्त्र का समग्र अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे आचार्यों ने ग्रह–गणना की सुविधा के लिए भूमि को स्थिर एवं इस सौरमण्डल के सभी ग्रह–नक्षत्रादि के केन्द्र रूप में स्वीकार किया है। क्यों कि आर्यभट्टादि के ग्रन्थों में स्पष्टतया भूभ्रमण का सिद्धान्त दृष्टिगत होता है। वास्तविकरूप में जैसा कि आप लोगों नें पूर्व में पढ़ा है इस सौरमण्डल में सूर्य ही सभी के केन्द्र में स्थित है और अन्य सभी उसकी परिक्रमा में संलग्न रहते हैं।

सामान्य दृष्टि से यह पृथ्वी ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित एवं स्वभाव से स्थिर प्रतीत होती है। आर्यभट्ट को छोड़कर प्रायः सभी प्राचीन भारतीय विद्वानों नें भूमि को स्थिर मानकर ग्रह–नक्षत्रादि की विभिन्न गतियों का प्रतिपादन किया है। परन्तु आर्यभट्ट नें स्पष्टतया अपने आर्यभटीयम् नामक ग्रन्थ में भूभ्रमण सिद्धान्त को स्थापित किया है। पाश्चात्य विद्वानों में सर्वप्रथम कोपर्निकस नामक विद्वान ने भूभ्रमण सिद्धान्त को स्थापित किया था परन्तु उससे पहले हि आर्यभट्ट के ग्रन्थ आर्यभटीयम् में इसका वर्णन स्थित है–

अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्श्चलं विलोमगं यद्वत्।

अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लंकायाम्।।

भपंजरः स्थिरो भूरेवावृत्यावृत्य प्रतिदैवसिकौ।

उदयास्तमयौ सम्पादयति ग्रहनक्षत्राणाम्।।

अर्थात् जिस प्रकार किसी नौका में बैठा हुआ व्यक्ति सीधा अपनी गन्तव्य दिशा में जाते हुए भी भ्रम के कारण नदी के किनारे विद्यमान वृक्षादि स्थिर वस्तुओं को अपने सापेक्ष विपरीत दिशा में चलता हुआ तथा स्वयं को स्थिर की तरह समझता है वैसे भूपृष्ठ पर विद्यमान जनों को भूमि की गति का आभास न होकर भपंजर का ही भ्रमण प्रतीत होता है। यहाँ भी पृथ्वी का दो प्रकार का भ्रमण दृष्टिगत होता है। एक चक्र भ्रमण तथा दूसरा अक्षभ्रमण।

अक्षभ्रमण 24 |00 घण्टादि में होता है जिससे दिन–रात्रि की व्यवस्था सिद्ध होती है। इस भ्रमण को प्राचीन सिद्धान्तों में प्रवहवायु के नाम से पढ़ा गया है। दूसरा इसका चक्रभ्रमण 365 |15 |30 |22 |30 सावन दिनादि में होता है जिसके द्वारा सौरवर्ष की पूर्ति होती है। आधुनिक विद्वान अक्षभ्रमण काल को 23 |56 |4 घण्टादि तथा चक्रभ्रमण काल को 365.256 स्वीकार करते है। आधुनिक विद्वानों नें इसकी धूरी में भी गति स्वीकार किया है जो कि लगभग 26,000 वर्षों में एक भ्रमण पूरा करती है। पृथ्वी के इसी भ्रमण के कारण ध्रुव तारे में भी परिवर्तन होता है। इसके तरफ भी कमलाकर भट्ट नें सिद्धान्ततत्त्वविवेक में इंगित करते हुए लिखा है कि **''ध्रुवतारां स्थितं ग्रन्थे मन्यन्ते ते कुबुद्धयः''**। अतः इसके अनुसार दो–तीन हजार वर्ष पूर्व में जो ध्रुव नामक तारा थी अभी उससे भिन्न तारा ध्रुव के रूप में है भविष्य में अन्य तारा ध्रुव रूप में स्थित होगी।

पृथ्वी के गुरुत्वाधिक्य के कारण इस अन्तरिक्ष में निराधार स्थिति सम्भव नहीं है ऐसी कल्पना करते हुए पुराणों में शेषनाग के फण पर पृथ्वी की स्थिति निरूपित हैं इस मान्यता में शेषनाग का आधार कच्छप तथा कच्छप का आधार वाराह है। परन्तु भारतीय ज्योतिष की परम्परा में भूमि का निराधारत्व ही निरूपित है। क्यों कि यदि भूमि का कोई आधार कल्पित करें तो उस आधार का भी कोई अन्य आधार तथा उस अन्याधार का भी कोई न कोई आधार कल्पित करना पड़ेगा तथा इस प्रकार अनवस्था का स्थिति उत्पन्न हो जाएगी तथा अन्त में अन्तरिक्ष की धारणात्मिका शक्ति कल्पित करनी पड़ेगी तो क्यों नहीं हम प्रारम्भ में ही भूमि में स्वशक्ति कल्पित करते हुए इसे आधारहीन स्वीकार कर लें। इस मत का दृढ़ता पूर्वक प्रतिपादन करते हुए आचार्य भास्कर ने लिखा है कि–

मूर्तो धर्ता चेद्धरित्र्यास्ततोऽन्यस्तस्याप्यन्योऽस्यैवमत्रानवस्था।

अन्त्ये कल्प्या चेत्स्वशक्तिः किमाद्ये किं नो भूमेः साष्टमूर्तेश्च मूर्तिः।।

अर्थात् भारतीय ज्योतिषशास्त्र की परम्परानुसार भी यह भूपिण्ड बिना किसी आधार के स्वशक्ति से ही ब्रह्माण्ड में स्थित है। इस सन्दर्भ में स्थिरता के कारण को प्रस्तुत करते हुए आचार्य नें लिखा है कि जिस प्रकार अग्नि एवं सूर्य में दाहकता है, चन्द्रमा में शीतलता है, वायु में स्वाभाविक गति है, पाषाण में कठिनता है उसी प्रकार पृथ्वी का निराधार ब्रह्माण्ड में

स्थिर रहना उसका स्वाभाविक गुण है। इसी प्रसंग में भास्कराचार्य नें "**आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरुं स्वाभिमुखं स्वशक्त्या**" इत्यादि कहते हुए पृथ्वी के आकर्षण शक्ति को भी निरूपित किया है।

पुराणों एवं अति प्रचीन मान्यताओं में पृथ्वी के स्वरूप के सन्दर्भ में भी विसंगतियाँ दिखाई देती हैं जिसका दैवज्ञों ने समुचित निराकरण किया है। यह पृथ्वी सामान्यतया सबको सरलाकारा दिखाई देती है पुराणों में इसका स्वरूप दर्पण के समान समतल वर्णित है परन्तु यह वास्तविक स्थिति नहीं है। पृथ्वी के गोलत्व का सिद्धान्त प्राचीनाचार्यों एवं भूगोलज्ञों में सर्वत्र प्राचीनकाल से ही प्रसिद्ध है। भास्कराचार्य ने सिद्धात शिरोमणि में पृथ्वी के स्वरूप वर्णन के अनन्तर स्पष्टरूप में इसके समतलत्व का निराकरण कर पृथ्वी का गोलत्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि–

यदि समा मुकुरोदरसन्निभा भगवती धरणी तरणिः क्षितेः।

उपरि दूरगतोऽपि परिभ्रमन् किमु नरैरमरैरिव नेक्षते।।

अर्थात् यदि पृथ्वी समतल है तो ब्रह्माण्ड में स्थित सूर्य सर्वदा ध्रुव प्रदेश वासियों की तरह अन्य सभी भूपृष्ठवासियों को छः–छः मास तक निरन्तर क्यों नहीं दिखाई देता। इस प्रकार अनेक उद्धरण देते हुए आचार्यों ने इसका गोलत्व प्रतिपादित किया है। गोल होने पर भी समतल दिखने के कारण को भी आचार्यों नें बताते हुए लिखा है कि–

समो यतः स्यात् परिधेः शतांशः पृथ्वी च पृथ्वी नितरां तनीयान।

नरश्च तत्पृष्ठगतस्य कृत्स्ना समेव तस्य प्रतिभात्यतः स्यात्।।

अर्थात् गणितीय सिद्धान्तानुसार किसी भी गोल पदार्थ का 100वाँ भाव समतल की तरह प्रतीत होता है। यहाँ भूपृष्ठ पर विद्यमान कोई भी व्यक्ति इस भूपृष्ठ के शतांश से भी स्वल्पतर यत्किंचित् ही देखने में समर्थ हो पाता है जिससे यह पृथ्वी गोल होते हुए भी हमें समतल की तरह दिखाई पड़ती है। प्रतीत्यर्थ हम जैसे विषुवत् रेखा से उत्तर या दक्षिण में जाते हैं वैसे–वैसे नक्षत्र मण्डल क्षितिज से उन्नत दिखाई पड़ने लगता है। जो पृथ्वी के गोलत्व को सूचित करता है। प्रस्तुत प्रसंग में आधुनिक विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि पृथ्वी का आकार पूर्णतया गोल नहीं है क्यों कि इसका विषुवत्वृत्तीय व्यास इसके ध्रुवीय व्यास से लगभग 40 किलोमीटर कम है अर्थात् यह दोनों ध्रुवों की ओर से थोड़ी चिपटी प्रतीत होती है। अन्य ग्रहों की अपेक्षा पृथ्वी का भ्रमणपथ भी वृत्ताकार न होकर दीर्घवृत्ताकार है। जुलाई के आरम्भ में पृथ्वी और सूर्य के मध्य अधिकतम तथा जनवरी के आरम्भ में न्यूनतम दूरी होती है। भारतीय ज्योतिष के अनुसार सूर्य एवं पृथ्वी के केन्द्र का औसत अन्तर 689377 योजन पठित है।

अभ्यास प्रश्न – 3

1. इनमें से कौन पृथ्वी का नाम नहीं है?

(क) क्षोणी (ख) पृथु (ग) काश्यपी (घ) अपनी

2. भारतीय आचार्यों में किसने भूभ्रमण सिद्धान्त निरूपित किया?

(क) आर्यभट्ट (ख) भास्कराचार्य (ग) वराहमिहिर (घ) भ्रमणेश्वर दैवज्ञ

3. सिद्धान्ततत्त्वविवेक ग्रन्थ के लेखक हैं।

(क) आर्यभट्ट (ख) लल्ल (ग) गणेश दैवज्ञ (घ) कमलाकर भट्ट

4. भारतीय आचार्यों में आकर्षण शक्ति के प्रतिपादक आचार्य हैं–

(क) आर्यभट्ट (ख) वराहमिहिर (ग) भास्कराचार्य (घ) कमलाकर भट्ट

5. किसी गोल का कौन सा हिस्सा समतल की तरह प्रतीत होता है?

(क) 10 वां (ख) 100 वां (ग) 50 वां (घ) 12 वां

6. पृथ्वी अपने अक्ष पर कितने समय में भ्रमण करती है।

(क) 12 घण्टा (ख) 24 घण्टा (ग) 48 घण्टा (घ) 36 घण्टा

7. आधुनिक मत में सूर्य का सबसे असन्नवर्ती ग्रह है।

(क) चन्द्र (ख) पृथ्वी (ग) शुक्र (घ) बुध

3.6 सारांश–

इस ब्रह्माण्ड में स्थित आकाशगंगा (Milky Way) एवं इसके अन्तर्गत स्थित सौरमण्डल तथा सभी सौरमण्डलों के अन्तर्गत विद्यमान ग्रह–नक्षत्रादि पिण्डों सहित सकल चराचरों का द्योतक शब्द ''विश्व'' है। भारतीय मान्यतानुसार पंचमहाभूतों से निर्मित यह विश्व ब्रह्ममय है। अतः यहां **''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''** का सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। इस विश्व के अन्तर्गत करोड़ों आकाशगंगाएं हैं। हमारे सबसे निकट की मन्दाकिनी 'देवयानी' नामक

आकाशगंगा है जो यहां से 20 लाख प्रकाश वर्ष दूर है। आकाशगंगा के 150 अरब तारों में हमारा सूर्य एक सामान्य श्रेणी का तारा है जो अपनी आकाशगंगा के केन्द्र से लगभग 20,000 प्रकाश वर्ष दूर है। यह अन्य ताराओं के साथ आकाशगंगा के केन्द्र की परिक्रमा करता है। इसके अतिरिक्त भी अन्य बहुत सारे पिण्ड हैं जो सूर्य की परिक्रमा करते हुए सूर्य के साथ–साथ आकाशगंगा के केन्द्र की परिक्रमा करते हैं। इन्हें हम **सौर परिवार** या **सौरमण्डल** के नाम से जानते हैं।

हमारे सौरमण्डल के ग्रहों की संख्या 8 (आठ) है, परन्तु हमारे भारतीय ज्योतिष के अनुसार ग्रहों की संख्या 9 (नव) वर्णित है। इन प्राच्य एवं पाश्चात्य मतों की संख्याओं में अन्तर ग्रहों की मानक परिभाषाओं के अन्तर के कारण है। भारतीय ज्योतिष में अपने मूल उद्देश्य के अनुसार सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु को ग्रहों की श्रेणी में रखा गया है तो आधुनिक मत में अपनी परिभाषा के अनुसार बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, गुरु, शनि, अरुण (यूरेनस), वरुण (नेपच्यून) को ग्रह माना गया है। पाश्चात्य मत में पृथ्वी एक ग्रह तो सूर्य एक तारा है। इसके अतिरिक्त भी अनेक लघुपिण्ड, उपग्रह, उल्का, धूम–केतु आदि इस सौरमण्डल में विद्यमान हैं।

इस सौरमण्डल में अन्य ग्रहों की तरह पृथ्वी भी एक ग्रह पिण्ड है जो पंचमहाभूतों से ही निर्मित है। भारतीय ज्योतिष के अनुसार यह ब्रह्माण्ड तथा सभी ग्रहों के केन्द्र में विद्यमान है परन्तु आधुनिक मत में पृथ्वी सभी के केन्द्र में स्थित नहीं है। यह गोलाकार पृथ्वी स्वशक्ति से इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान है तथा इसके पृष्ठ भाग पर चारो ओर ग्राम, वन, उपवन आदि सकल चराचरों की स्थिति है।

3.7 शब्दावली–

दीर्घवृत्त	=	ऐसा वृत्त जिसके दो केन्द्र होते हैं। इसका आकार अण्डे जैसा होता है।
नाभी	=	दीर्घवृत्त का केन्द्र।
मन्दाकिनी	=	अनेक सौरमण्डलों का सर्पिल (स्पाइरल) के आकार का समूह।
अक्ष	=	धूरी।
प्रकाशवर्ष	=	दूरी मापने की इकाई।
प्रवह वायु	=	एक कल्पित वायु जो 24 घण्टे में पूर्ण ब्रह्माण्ड को पश्चिमाभिमुख एक बार घुमा देता है।
ग्रह	=	प्राचीन मतानुसार जिन आकाशीय पिण्डों में अपनी गति है तथा जो भूपृष्ठ पर प्रभाव डालते हैं। आधुनिक मतानुसार जो सूर्य केन्द्र की परिक्रमा करते हैं।

3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

अभ्यास प्रश्न – 1 का उत्तर–

1. – (घ) ब्रह्माण्ड में स्थित सकल पिण्ड एवं उनपर स्थित चराचर
2. – (घ) असंख्य
3. – (क) सूर्य
4. – (ख) भूकेन्द्र
5. – (घ) 100000 प्रकाशवर्ष
6. – (ग) 300000 किमी.
7. – (ख) 08
8. – (क) 07
9. – (ख) क्रान्तिवृत्त में
10. – (ख) 59।8 कलादि

अभ्यास प्रश्न – 2 का उत्तर–

1. – (घ) 60
2. – (ख) चन्द्रविमण्डल
3. – (क) 81 गुणा
4. – (ग) 08
5. – (ख) राहु
6. – (ख) बुध
7. – (क) 365.25
8. – (ख) वरुण
9. – (क) शुक्र
10. – (ग) 30 वर्ष में

अभ्यास प्रश्न – 3 का उत्तर–

1. – (ख) पृथु
2. – (क) आर्यभट्ट
3. – (घ) कमलाकर भट्ट
4. – (ग) भास्कराचार्य
5. – (ख) 100 वां
6. – (ख) 24 घण्टा
7. – (घ) बुध

3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

(1) सूर्य सिद्धान्त।
(2) सिद्धान्त शिरोमणि।
(3) सिद्धान्ततत्त्वविवेक।
(4) ज्योतिष–सिद्धान्त–मंजूषा।
(5) सौरमण्डल।

3.10 निबन्धात्मक अभ्यास प्रश्न–

(1) विश्व का परिचय दीजिए।
(2) सौरमण्डल का स्वरूप निरूपित करें।
(3) सौरमण्डल के ग्रहों का परिचय दें।
(4) पृथ्वी का गोलत्व एवं आधार शून्यता निरूपित करें।
(5) भारतीय ज्योतिषोक्त ग्रहों का स्वरूप निरूपित करें।

इकाई - 4 काल की अवधारणा एवं भेद

इकाई की संरचना

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 काल
4.3.1 सूक्ष्म काल
4.3.2 स्थूल/गणना में प्रयुक्त काल
अभ्यास प्रश्न – 1
4.4 स्थूल काल के भेद
4.4.1 नाक्षत्रमान
4.4.2 चान्द्रमान
4.4.3 सौरमान
4.4.4 सावनमान
4.4.5 पितृमान
4.4.6 दिव्यमान
4.4.7 गौरवमान
4.4.8 प्राजापत्यमान
4.4.9 ब्राह्ममान
4.5 नवविधकालमानों में प्रयुक्त काल की बड़ी इकाईयाँ
अभ्यास प्रश्न – 2
4.6 कालमानों का उपयोग
4.7 अधिमास
4.8 क्षयमास
अभ्यास प्रश्न – 3
4.9 सारांश
4.10 शब्दावली
4.11 सन्दर्भग्रन्थ
4.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.13 अभ्यास प्रश्न

4.1 प्रस्तावना –

प्रस्तुत इकाई एम.ए. ज्योतिष पाठ्यक्रम (द्वितीय सेमेस्टर) के प्रथम पत्र के अन्तर्गत चतुर्थ खण्ड की चौथी इकाई है। इसके अन्तर्गत हम काल एवं काल से सम्बन्धित सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त करेंगे। क्यों कि ज्योतिषशास्त्र एक काल विधान शास्त्र है जिसके अन्तर्गत काल की सूक्ष्मतम एवं विशिष्ट व्याख्या की गई है। इस शास्त्र के प्रवर्त्तन का आधार भी काल गणना ही है क्योंकि काल ज्ञान के बिना ज्योतिषशास्त्र के उद्देश्य की कथमपि सिद्धि नहीं हो सकती। न केवल ज्योतिषशास्त्र के प्रयोजन अपितु वेदों के परमप्रयोजन सिद्धि में भी अनुकूल काल की महत्ता को स्वीकार करते हुए आचार्यों ने ज्योतिष को वेदांग रूप में स्वीकार कर इसे वेदांगों में मूर्ध्नि संस्थित माना है। ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत ग्रहसाधन, मुहूर्त्त परिज्ञान, व्रत–पर्व आदि का निर्धारण या अन्यान्य सभी श्रौत–स्मार्त्त कर्म आदि का ठीक प्रकार से निर्धारण कालज्ञान के बिना नहीं हो सकता। इतना ही नहीं अपितु यह विश्व भी काल से ही उत्पन्न होकर काल में समाहित हो जाता है इसीलिए वेद एवं वेदविहित मार्ग में प्रवृत्ति हेतु तथा विश्व के वास्तविक स्वरूप के परिज्ञान हेतु कालज्ञान आवश्यक है।

4.2 उद्देश्य–

इस पाठ के अध्ययन से आप–

- ✓ काल गणना में दक्षता प्राप्त करेंगे।
- ✓ सूक्ष्म एवं स्थूल काल की गणना कर उसके अन्तर को समझ सकेंगे।
- ✓ काल की सबसे छोटी इकाई से आरम्भ कर बड़ी इकाई तक से परिचित हो सकेंगे।
- ✓ काल ज्ञापक प्राचीन संज्ञाओं से परिचित होंगे।
- ✓ प्राचीन कालमान को आधुनिक कालमान में परिणत कर सकेंगे।
- ✓ काल के भेदों को ठीक–ठीक जान सकेंगे।

4.3 काल–

''कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः'' इत्यादि शास्त्र वचनों के आधार पर काल अनादि एवं अनन्त रूप में परिलक्षित होता है। अतः इसको किसी भी एक नियम या परिभाषा में आबद्ध कर देना एक कठिनतम प्रयास है, तथापि शास्त्रकारों ने अपने–अपने सिद्धान्तों का अनुसरण कर इसके अनेक परिषाभाओं को सूक्ष्म रूप में प्रतिपादित किया है। परन्तु कालविधान शास्त्र होने के कारण ज्योतिषशास्त्र में काल की अवधारणा सुव्यवस्थित एवं सूक्ष्मतम रूप में प्रतिपादित है। ज्योतिष शास्त्रानुसार काल को दो भागों में विभक्त कर इसकी परिभाषा निश्चित की गई है। जिसमें काल के प्रथम भेद को परमेश्वर का रूप

स्वीकार कर सृष्टिकारक एवं 'अन्तकृत्' अर्थात् लोक का संहारक तथा दूसरे को 'कलनात्मक' अर्थात् गणना में प्रयुक्त काल कहा गया है। प्रस्तुत प्रसंग में अन्तकृत् काल की प्रत्यक्ष उपयोगिता नहीं होने से कलनात्मक काल का ही आप ज्ञान प्राप्त करेंगे।

आचार्यों ने इस कलनात्मक काल को भी स्थूल और सूक्ष्म भेद से मूर्त्त एवं अमूर्त्त संज्ञा द्वारा परिभाषित करते हुए इनमें भी मूर्त्त अर्थात् स्थूल काल को ही व्यवहार योग्य माना है।

काल

- (अन्तकृत) उत्पादक एवं संहारक
- कलनात्मक
  - सूक्ष्म (अमूर्त्त)
  - स्थूल (मूर्त्त)

जैसा कि सूर्यसिद्धान्त में भी वर्णित है–

लोकानामन्तकृत् कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः।
स द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वात् मूर्त्तश्चामूर्त्त उच्यते।।

4.3.1 सूक्ष्म काल–

सूक्ष्म काल की इकाईयों को यन्त्रादि के द्वारा जानकर गणित में प्रयोग किया जाता है। अतः सरलतापूर्वक आभास नहीं होने के कारण सामान्य व्यवहार में अनुपयुक्त काल को सूक्ष्म या अमूर्त्त काल कहा जाता है। सूक्ष्म काल की लघुत्तम इकाई ''त्रुटि'' तथा महत्तम इकाई ''लीक्षक'' होती है। त्रुटि की परिभाषा करते हुए भास्कराचार्य ने **''योक्ष्णोर्निमेषस्य खरामभागः स तत्परस्तच्छतभाग उक्ता त्रुटिः''** अर्थात् एक स्वस्थ मनुष्य के नेत्रों का पलक झपकने में जितना समय लगता है इसके $\frac{1}{30}$ भाग को ''तत्पर'' तथा तत्पर के $\frac{1}{100}$ भाग को त्रुटि कहते हैं। अतः पलक झपकने के $\frac{1}{30}\times\frac{1}{100} = \frac{1}{3000}$ भाग (तीन हजारवें भाग) को त्रुटि कहा जाता है। ग्रन्थान्तर की परिभाषा के अनुसार तीक्ष्ण सूची (सूई) के अग्रभाग से कमल पंखुड़ी के भेदन में जो काल व्यतीत होता है उसे त्रुटि कहते है। यथा–

सूच्या भिन्ने पद्मपत्रे त्रुटिरित्यभिधीयते।
तत्षष्ट्या रेणुरित्युक्तो रेणुषष्ट्या लवः स्मृतः।।
तत्षष्ट्या लीक्षकं प्रोक्तं तत्षष्ट्या प्राण उच्यते।।

इस श्लोक की व्याख्या को निम्नलिखित सारणी द्वारा सरलतया जान सकेंगे–

1 त्रुटि = सूची द्वारा पद्मपत्र भेदन काल = 1/3240000 सेकेण्ड

60 त्रुटि = 1 रेणु = 1/54000 सेकेण्ड

60 रेणु = 1 लव = 1/900 सेकेण्ड

60 लव = 1 लीक्षक = 1/15 सेकेण्ड

60 लीक्षक = 1 प्राण = 4 सेकेण्ड

अमूर्त्त काल के विषय में पुराणों में कहीं–कहीं मतान्तर भी प्राप्त होता है।

4.3.2 स्थूल/गणना में प्रयुक्त काल–

अब तक आपने जाना की सूक्ष्म काल की बड़ी इकाई लीक्षक है तथा 60 लीक्षक का 1 प्राण/असु होता है जो (असु) स्थूल काल की सूक्ष्मतम इकाई है। अब आप स्थूल काल के अन्य मानको को जानेगें–

किसी स्वस्थ मनुष्य के श्वास ग्रहण में व्यतीत अथवा दश दीर्घाक्षर के उच्चारण में लगने वाले काल को प्राण या असु कहा जाता है। शेष इकाईयाँ निम्नलिखित हैं–

1 प्राण = 10 दीर्घाक्षरोच्चारण काल = 10 विपल = 4 सेकेण्ड

(1 दीर्घाक्षरोच्चारण काल = 1 विपल)

6 प्राण = 60 विपल = 1 पल = 24 सेकेण्ड

60 पल = 1 घटी (1 दण्ड/नाड़ी) = 24 मिनट

60 घटी = 1 नाक्षत्र दिन = 24 घण्टा

30 दिन = 1 मास

12 मास = 1 वर्ष

अभ्यास प्रश्न – 1

1. काल कितने प्रकार का होता है?

(क) 01 (ख) 02 (ग) 03 (घ) 04

2. सूक्ष्म काल है।

(क) असु (ख) प्राण (ग) लीक्षक (घ) विपल

3. कलनात्मक काल के कितने भेद हैं?

(क) 02 (ख) 03 (ग) 04 (घ) 09

4. पद्मपत्र भेद काल क्या है?

(क) असु (ख) लीक्षक (ग) तत्पर (घ) त्रुटि

5. एक घटी में कितने मिनट होते हैं?

(क) 60 (ख) 25 (ग) 30 (घ) 24

6. चार सेकेण्ड का क्या होता है?

(क) विपल (ख) रेणु (ग) प्राण (घ) लव

7. एक लव में कितने रेणु होते हैं?

(क) 24 (ख) 60 (ग) 10 (घ) 27

8. नाक्षत्र दिन में कितने दण्ड होते हैं?

(क) 24 (ख) 27 (ग) 90 (घ) 60

4.4 स्थूल काल के भेद–

अब तक आपने सूक्ष्म एवं स्थूल काल के बारे में जाना, अब आप कलनात्मक काल के अन्तर्गत स्थूल काल के भेदों के बारें में जानेंगे।

प्रयोजनानुसार पृथक्–पृथक् गणना हेतु ज्योतिषशास्त्र में काल के नव भेद बताए गए हैं, जो निम्नलिखित है–

ब्राह्मं दिव्यं तथा पैत्र्यं प्राजापत्यं च गौरवम्।
सौरञ्च सावनं चान्द्रमार्क्षं मानानि वै नव।।

अर्थात् (1) ब्राह्म (2) दिव्य (3) पैत्र्य (4) प्राजापत्य (5) गौरव (6) सौर (7) सावन (8) चान्द्र एवं (9) आर्क्ष/नाक्षत्र, ये नव प्रकार के काल भेद होते हैं। इनका कोई नियत क्रम नहीं है अपितु ये किसी भी क्रम में विचारित हो सकते हैं।

अब आप इन काल भेदों का पृथक्–पृथक् परिचय प्राप्त करेंगे–

4.4.1 नाक्षत्रमान–

भास्कराचार्योक्त **''भवासरस्तु भभ्रमः''** अथवा सूर्यसिद्धान्तोक्त **''भचक्रभ्रमणं नित्यं नाक्षत्रदिनम् उच्यते''** के अनुसार प्रवह वायु द्वारा प्रेरित गति से नक्षत्रमण्डल के पश्चिमाभिमुख 1 भ्रमण का काल एक नाक्षत्र दिन होता है। भारतीय ज्योतिष की मान्यता के अनुसार प्रवह नामक वायु ग्रहादि सहित पूरे नक्षत्रमण्डल को पश्चिमाभिमुख भ्रमण करने हेतु प्रेरित करता है। यद्यपि नक्षत्रों की अपनी स्वतः गति नहीं होती परन्तु प्रवह वायु के द्वारा प्रेरित होकर घूमते हुए इनका पूर्व क्षितिज में उदय एवं पश्चिम क्षितिज में अस्त दिखाई पड़ता है। ग्रहों के उदय अस्त भी प्रवह वायु की गति से ही होते हैं। यद्यपि ग्रहों की अपनी पूर्वाभिमुखी गति होती है परन्तु ये अपनी स्वल्प पूर्वा गति के साथ–साथ प्रवहवायु की पश्चिमा गति से भ्रमण करते हुए उदयास्त को सम्पादित करते हैं। अतः किसी भी नक्षत्र के पूर्वक्षितिज में उसके प्रथम उदय से पुनः द्वितीय उदय के मध्य का काल नाक्षत्र दिन होता है। यह काल मध्यम मान से 60 घटी अर्थात् 24 घण्टे का होता है। वास्तविक रूप में नक्षत्र दिन का ज्ञान वेध के द्वारा ही सम्भव है। अतः वेध द्वारा पूर्वक्षितिज में प्रथम दिन मेष सम्पात बिन्दु का वेध कर पुनः द्वितीय दिन सम्पात बिन्दु के वेध से इन दोनों दिनों के मध्यवर्ती काल को नाक्षत्र दिन कहते हैं। आधुनिक मतानुसार प्रवह वायु के स्थान पर पृथिवी के अपने अक्ष पर एक भ्रमण काल से नाक्षत्र दिन की सिद्धि होती है। 30 नाक्षत्र दिन का 1 नाक्षत्र मास तथा 12 नाक्षत्र मास से 1 नाक्षत्र वर्ष होता है, परन्तु नाक्षत्र मास, वर्ष का प्रचलन सामान्य व्यवहार में नहीं है।

4.4.2 चान्द्रमान–

''**चन्द्रसम्बन्धिमानं चान्द्रमानम्**'' अर्थात् चन्द्रमा से सम्बन्धित मान चान्द्र मान होता है। इसके अन्तर्गत तिथियाँ चान्द्र दिन के रूप में परिगणित होकर सूर्य और चन्द्रमा के 12–12 अंशों के अन्तर से सिद्ध होती हैं क्यों कि ''**दर्शः सूर्येन्दु संगमः**'' अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा की राश्यादि मान से युति अमान्त है तथा एक अमावस्यान्त से दूसरे अमावस्यान्त के मध्य का काल एक चान्द्र मास होता है। जैसा कि भास्कराचार्य नें कहा है ''**रवीन्द्वोर्युतिः संयुतिर्यावदन्या विधोर्मासः**''। अतः एक चान्द्रमास में सूर्य और चन्द्रमा का अन्तर 12 राशि अर्थात् 360^0 अंश के बराबर होता है। क्यों कि सौरमण्डल में सूर्य की कक्षा बड़ी तथा चन्द्रमा की अत्यल्प होने से सूर्य जब तक एक राशि का भोग करता है तब तक चन्द्रमा बारहों राशियों का भोग कर पुनः सूर्य के साथ अर्थात् राश्यादि मान से सूर्य के तुल्य हो जाता है जिससे उपर्युक्त लक्षण के अनुसार एक चान्द्रमास की पूर्ति में सूर्य और चन्द्रमा का अन्तर 360^0 के तुल्य होता है। एक चान्द्रमास में 30 चान्द्रदिन (तिथियाँ) होती हैं। अतः 30 दिनों में सूर्य और चन्द्रमा का अन्तर 360^0 होता है तो एक दिन में कितना अन्तर होगा इस गणित के अनुसार $360^0 \div 30 = 12$ अंश अर्थात् एक चान्द्रदिन में सूर्य और चन्द्रमा का अन्तर 12 अंश के तुल्य होता है। अतः अमावस्या के बाद चन्द्रमा जब सूर्य से 12 अंश अन्तरित होता है तो प्रतिपदा तिथि की समाप्ति तथा द्वितीय तिथि का आरम्भ होता है। इसी प्रकार सूर्य से चन्द्रमा के 24 अंश अन्तरित होने से द्वितीया, 36 अंश से तृतीया आदि सिद्ध होकर 360^0 अन्तर होने पर पुनः अमावस्या आकर 30 तिथियाँ अर्थात् एक चान्द्रमास की पूर्ति हो जाती है। 12 चान्द्रमासों का एक चान्द्र वर्ष होता है। भारतीय परम्परा एवं व्यवहार में चान्द्रमासों का ही ग्रहण होता है। पंचांगों में लिखित चैत्र, वैशाखादि मास चान्द्र ही हैं। मध्यम मान से एक चान्द्र मास में 29 दिन 31 घटी तथा 50 पल होते हैं। जैसा कि सिद्धान्तशिरोमणि में भी वर्णित है–

कालेन येनैति पुनः शशीनं क्रामन् भचक्रं विवरेणगत्योः।।
मासः स चान्द्रोंऽकयमाः कुरामाः पूर्णेषवस्तत्कुदिनप्रमाणम्।।

4.4.3 सौरमान–

जिस प्रकार चन्द्रमा से सम्बन्धित मान चान्द्रमान होता है उसी प्रकार सूर्य से सम्बन्धित मान को सौरमान कहते है। शास्त्रकारों के अनुसार ''**संक्रान्त्याः सौर उच्यते**'' अर्थात् संक्रान्ति से सौरमान की सिद्धि होती है। किसी भी ग्रह के केन्द्र बिन्दु का राशि में प्रवेश काल उस ग्रह की सम्बन्धी राशि से युक्त संक्रान्ति होती है। इस प्रकार आकाश में विद्यमान सभी ग्रहों की संक्रान्तियाँ होती हैं, परन्तु सूर्य की संक्रान्ति उनमें विशिष्ट महत्त्व रखती है इसीलिए संक्रान्ति शब्द से सामान्यतया सूर्य की संक्रान्ति का ही बोध होता है। सूर्य के द्वादश राशियों में भोगपूर्वक बारह संक्रान्तियों से एक सौर वर्ष की पूर्ति होती है इसीलिए आचार्यों ने भी ''**रवेश्चक्रभोगोऽर्कवर्षं प्रदिष्टम्**'' अर्थात् सूर्य का चक्र (बारह राशियों का) भोग एक सौर वर्ष होता है, ऐसा कहा है। एक वर्ष में 12 मास तथा एक चक्र में 12

राशियाँ होती है। अतः 1 राशि में सूर्य के भोग से एक सौरमास सिद्ध होगा। इसी प्रकार एक मास में 30 दिन तथा एक राशि में 30 अंश होते हैं जिससे कि सूर्य के एक अंश भोग से एक सौर दिन की पूर्ति होती है। आधुनिक दृष्टि में पृथ्वी का अपनी कक्षा में एक चक्र भ्रमण काल ही एक सौर वर्ष है। समग्र विश्व में वर्ष का मान सौर ही ग्रहण किया जाता है।

4.4.4 सावनमान–

किसी भी ग्रह का किसी स्थान के क्षिजित में एक उदय से दूसरे उदय के बीच का काल उस ग्रह का सावन दिन होता है। अतः इस परिभाषा के अनुसार सूर्य के एक उदय से द्वितीय उदय के बीच का काल सूर्य सम्बन्धी सावन दिन होगा। प्रत्यक्ष दृश्य होने एवं शास्त्र वचन के अनुसार सूर्य सम्बन्धित सावन दिन ही पृथ्वी वासियों का सावन दिन होता है। इसीलिए शास्त्रकारों ने ''**उदयादुदयं भानोः भूमेः सावनवासरः**'' तथा ''**इनोद्वयद्वयान्तरं तदर्कसावनं दिनम्, तदेव मेदिनी दिनम्**'' आदि प्रमाण वचन लिखा है। यहां पर भी अन्य मानों की तरह 30 सावन दिनों का एक सावन मास तथा 12 सावन मास का 1 सावन वर्ष होता है। भास्कराचार्य नें एक सौरवर्ष में 365 दिन 15 घटी 30 पल 22 विपल तथा 30 प्रति विपल कहा है। यथा–

पंचांगरामास्तिथयः खरामाः सार्द्धाद्विदस्राः कुदिनाद्यमब्दे।
अस्यार्कमासोऽर्कलवः प्रदिष्टास्त्रिंशद्दिनः सावनमास एव।।

सूर्य के तरह ही अन्य ग्रहों के उदय से उनके सावन दिन सिद्ध होते हैं।

4.4.5 पितृमान–

पितृ सम्बन्धी मान पितृमान होता है। पुराणों की मान्यतानुसार चन्द्रगोल के उर्ध्वभाग में पितरों का निवास स्थान होता है। भास्कराचार्य ने भी सिद्धान्त शिरोमणि में इसका वर्णन किया है। यथा– ''**विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्तः, स्वाधः सुधादीधितिमामनन्ति।**'' सैद्धान्तिक नियमानुसार चन्द्रगोल के उर्ध्वभाग में विद्यमान होने से अमावस्यान्त कालिक सूर्य को पितृगण अपने खमध्य में देखते है जिससे अमावस्यान्त काल में उनका मध्याह्न बिन्दु सिद्ध होता है। क्यों कि अमान्त काल में सूर्य और चन्द्रमा राश्यादि मान से तुल्य होते हैं तथा चन्द्रगोल के ऊपर सूर्यगोल होने से एक राश्यादि बिन्दुगत सूर्य चन्द्रगोल के ठीक ऊपर खमध्य में सिद्ध होगा, अतः इस नियमानुसार कृष्ण पक्ष की सार्द्ध सप्तमी में उनका दिवसारम्भ, शुक्ल पक्ष की सार्द्ध सप्तमी में रात्रि का आरम्भ तथा पूर्णिमान्त काल में उनकी मध्य रात्रि होती है। इस प्रकार कृष्ण पक्ष की सार्द्ध सप्तमी से आरम्भ कर शुक्ल पक्ष की सार्द्ध सप्तमी तक दिन तथा शुक्ल पक्ष की सार्द्ध सप्तमी से आरम्भ कर कृष्ण पक्ष की सार्द्ध सप्तमी तक इनकी रात्रि होने से ''**विधोर्मास एतच्च पैत्र्यं द्युरात्रम्**'' के अनुसार एक चान्द्रमास तुल्य काल में इनका एक अहोरात्र सिद्ध होता है। जैसा कि सूर्यसिद्धान्त में भी उक्त है–

त्रिंशता तिथिभिर्मासश्चान्द्रः पित्र्यमहः स्मृतम्।

निशा च मासपक्षान्तौ तयोर्मध्ये विभागतः।।

4.4.6 दिव्यमान–

देव सम्बन्धी मान दिव्यमान होता है। दिव्यमान का दूसरा नाम दैव मान भी है। आप जानते हैं कि सूर्य के द्वादश राशियों में भोग से एक सौर वर्ष की पूर्ति होती है। यही सौर वर्ष देवताओं एवं दैत्यों का एक अहोरात्र होता है। जैसा कि सिद्धान्त शिरोमणि में भास्कराचार्य नें भी कहा है–

रवेश्चक्रभोगोऽर्कवर्षं प्रदिष्टं द्युरात्रं च देवासुराणां तदेव।।

परन्तु यहाँ पर देवताओं एवं दैत्यों का एक ही अहोरात्र होते हुए भी इनकी रात्रि एवं दिन एक साथ नहीं अपितु परस्पर विपरीत क्रम से होते हैं अर्थात् उसी सौरवर्षात्मक अहोरात्र में छः मास का दिन तथा छः मास की उनकी रात्रि होती है। जिस समय देवताओं का दिन होता है उस समय दैत्यों की रात्रि तथा दैत्यों के दिन के समय देवताओं की रात्रि होती है। क्यों कि शास्त्रों के प्रमाण के अनुसार इस पृथ्वी के उत्तरी ध्रुवस्थान में देवताओं तथा दक्षिणी ध्रुवस्थान पर दैत्यों का निवास स्थान है जिससे सैद्धान्तिक नियमानुसार आकाशीय ध्रुवों में उत्तरी ध्रुव देवताओं के खमध्य में तथा दक्षिणी ध्रुव दैत्यों के खमध्य में सिद्ध होता है। अतः **''खमध्यान्नवत्यंशैर्यतं वृत्तं तत् क्षिजितं स्मृतम्''** के अनुसार ध्रुवरूपी खमध्य स्थान से 90 अंश के चाप से निर्मित नाड़ी वृत्त ही इनका क्षिजित वृत्त हो जाता है। नाड़ी वृत्त शून्य क्रान्ति का वृत्त होता है जो सूर्य के चक्र भ्रमण को दो बराबर भागों में विभक्त करता है अर्थात् मेषादि से कन्यान्त तक सूर्य का भ्रमण नाड़ी वृत्त के उत्तर भाग में तथा तुलादि से मीनान्त तक सूर्य का भ्रमण नाड़ी वृत्त के दक्षिण भाग में होता है। अतः मेषादि छः राशियों में भ्रमण करते हुए सूर्य को सौम्य ध्रुवगत देवगण अपने क्षिजित के उपर देखते हैं जिससे **''दिनं दिनेशस्य यतोऽत्र दर्शने''** के नियमानुसार उनका दिन तथा दैत्य भाग हेतु क्षिजित के नीचे सूर्य का भ्रमण होने से दैत्यों की छः मास पर्यन्त रात्रि सिद्ध होती है। इसी प्रकार दक्षिण भाग में तुलादि छः राशियों में सूर्य के भ्रमण काल में दक्षिण ध्रुवगत दैत्यगण सूर्य को अपने क्षिजित के उर्ध्व भाग में देखते है जिससे दैत्यों का छः मास का दिन तथा सौम्य ध्रुवगत देवगण तुलादि छः राशि गत सूर्य को अपने क्षिजित के नीचे देखते हैं जिससे इस काल में देवताओं की छः मास की रात्रि सिद्ध होती है। इस प्रकार के 30 दिव्यदिन (सौरमास) का एक दिव्यमास तथा 360 दिव्यदिन (सौरवर्ष) का एक सौरवर्ष होता है। सूर्यसिद्धान्त में भी यह स्पष्टतया वर्णित है। यथा–

मेषादौ देवभागस्थे देवानां याति दर्शनम्।
असुराणां तुलादौ तु सूर्यस्तद्भागसंचरः।।

4.4.7 गौरवमान–

ऊपर आपने पढ़ा कि जिस प्रकार सूर्य से सम्बन्धित सौर, चन्द्र से सम्बन्धित चान्द्र, देवों से सम्बन्धित दिव्य मान होता है उसी प्रकार गुरु से सम्बन्धित गौरव मान होता है।

इस मान को जैव, बार्हस्पत्य तथा गुरुमान के नाम से भी जानते हैं। यहाँ **''मध्यमगत्या भभोगेन गुरोर्गौरववत्सराः''** इस वशिष्ठ वचन तथा **''बृहस्पतेर्मध्यमराशिभोगात् सांवत्सरं सांहितिकाः वदन्ति''** इस भास्कराचार्य की परिभाषा के अनुसार पाँच (5) कला की अपनी मध्यम गति से बृहस्पति के एक राशि भोग काल को गौरववर्ष कहते हैं अर्थात् मध्यम गति द्वारा किसी राशि में प्रवेश काल से आरम्भ कर उस राशि के सम्पूर्ण भोग काल तक उस गौरववर्ष की पूर्ति होकर द्वितीय संवत्सर (गौरववर्ष) का आरम्भ हो जाता है परन्तु संकल्पादि में नूतन संवत्सर का प्रयोग चैत्र शुक्लादि से आरम्भ करते हैं। ये गुरु वर्ष सम्प्रति प्रभवादि साठ (60) संवत्सरों के नाम से व्यवहृत होते हैं। 5 कला की मध्यम गति से सामान्यतया 360 दिनों में एक गौरववर्ष की पूर्ति होती है।

4.4.8 प्राजापत्यमान–

प्रजापति अर्थात् मनु से सम्बन्धित मान प्राजापत्य मान होता है। सूर्यसिद्धान्त में स्पष्टतया वर्णित है कि **''मन्वन्तरव्यवस्था च प्राजापत्यम् उदाहृतम् .... न तत्र द्युनिशोर्भेदो .... |''** अर्थात् मन्वन्तर ही प्राजापत्य मान है। मन्वन्तर अर्थात् मनु मान को आप पहले ही पढ़ चुके है कि 71 महायुग का एक मनु होता है। यही मनु मान प्राजापत्य मान है अर्थात् 71 महायुग का एक प्राजापत्य मान होता है। इस मान में देव, दैत्य, पितृ आदि मानों की तरह दिन–रात्रि का भेद नहीं होता है। 14 मनु मानों से एक कल्प (काल की बृहत्तम इकाई) का निर्णय होता है। अर्थात् 1 कल्प में 14 मनु होते हैं जिसमें वर्तमान कल्प में स्वयंभू, स्वारोचिष, उत्तमज, तामस, रैवत तथा चाक्षुष ये छः मनु व्यतीत हो गये है तथा वत्तर्मान में वैवस्वत नामक सातवाँ मनु प्रचलित है।

4.4.9 ब्राह्ममान –

ब्रह्मा से सम्बन्धित ब्राह्ममान होता है। पुराणों के अनुसार 1000 महायुगों का एक कल्प होता है जो ब्रह्म सम्बन्धी अर्थात् ब्रह्मा का एक दिन मात्र है। उतने ही प्रमाण की अर्थात् 1 कल्प की ही उनकी रात्रि भी वर्णित है। इसलिए 2000 महायुगों अर्थात् दो कल्प का ब्रह्मा का एक अहोरात्र होता है। इसको भास्कराचार्य ने भी स्पष्ट लिखा है–

''स्याद् युगानां सहस्रं दिनं वेधसः, सोऽपि कल्पो द्युरात्रं तु कल्पद्वयम्।''

चूँकि 1 कल्प में 1000 महायुग तथा 1 महायुग में 4320000 सौरवर्ष होता है। इसलिए एक कल्प $= 1000 \times 4320000 = 4320000000$ सौरवर्ष का होगा तथा $4320000000 \times 2 = 8640000000$ सौरवर्ष का ब्रह्मा का एक अहोरात्र होगा। इस प्रकार ब्रह्मा के दो कल्परूपी अहोरात्र से परिगणित कर ब्रह्मा की 100 वर्ष की आयु होती है जिसे शास्त्रों में महाकल्प नाम से पढ़ा गया है। यथा सिद्धान्त सार्वभौम–

तदद्वयं द्युनिशां धातुः पूर्वोक्तपरिभाषया।
शतवर्षस्मृतं कायुर्महाकल्पाभिधं तथा।।

अपनी 100 वर्षों की आयु में से ब्रह्मा की आधी आयु व्यतीत हो गयी है तथा द्वितीय परार्द्ध के इस प्रथमवर्ष, प्रथममास, प्रथमदिन रूपी इस श्रीश्वेतवाराह नामक वर्त्तमान कल्प में भी चौदह मनुओं में से छः मनु, सातवें मनु के 27 महायुग, इस अट्ठाइसवें महायुग के कृतयुग, त्रेतायुग एवं द्वापर ये तीन युगपाद व्यतीत हो चुके हैं तथा यह कलियुग चल रहा है जिसमें कलियुगादि से शकारम्भ काल तक 3179 वर्ष तथा उसके बाद अभिष्ट वर्ष के शक व्यतीत हो चुके हैं।

4.5 नवविधकालमानों में प्रयुक्त काल की बड़ी इकाईयाँ –

काल की बड़ी इकाईयाँ–

1 सौरवर्ष = 1 दिव्य दिन

30 दिव्य दिन = 1 दिव्यमास = 30 सौरवर्ष

12 दिव्य मास = 1 दिव्यवर्ष = 360 सौरवर्ष

1728000 सौरवर्ष = 4800 दिव्यवर्ष = कृतयुग

1296000 सौरवर्ष = 3600 दिव्यवर्ष = त्रेतायुग

864000 सौरवर्ष = 2400 दिव्यवर्ष = द्वापरयुग

432000 सौरवर्ष = 1200 दिव्यवर्ष = कलियुग

कृतयुग + त्रेतायुग + द्वापरयुग + कलियुग = महायुग

4320000 सौरवर्ष = 12000 दिव्यवर्ष = 1 महायुग

71 महायुग = 1 मनु = 306720000 सौरवर्ष

14 मनु + कृतयुग वर्ष प्रमाण की 15 सन्धि = 1000 महायुग = 1 कल्प

= 4320000000 सौरवर्ष = 1 ब्रह्मदिन

2 कल्प = 2000 महायुग = 8640000000 सौरवर्ष = ब्रह्मा का दिन (अहोरात्र)

60 कल्प = 1 ब्राह्ममास

12 मास = 720 कल्प = 1 ब्राह्मवर्ष

100 ब्राह्मवर्ष = महाकल्प = ब्रह्मा की पूर्णायु।

अभ्यास प्रश्न – 2

1. काल मान कितले होते हैं?

(क) 03 (ख) 02 (ग) 07 (घ) 09

2. भचक्र का भ्रमण कौन सा दिन होता है?

(क) सौर (ख) चान्द्र (ग) नाक्षत्र (घ) सावन

3. तिथियाँ कौन सा दिन है?

(क) चान्द्र (ख) सौर (ग) सावन (घ) नाक्षत्र

4. सूर्य चन्द्रमा के कितने अंश अन्तर से 1 तिथि होती है?

(क) 11 (ख) 12 (ग) 18 (घ) 24

5. सूर्य के तीस अंश भोग से कौन सा मास होता है?

(क) सौर (ख) चान्द्र (ग) नाक्षत्र (घ) सावन

6. एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक का काल क्या है?

(क) सौरदिन (ख) चान्द्रदिन (ग) नाक्षत्रदिन (घ) सावनदिन

7. पितरो का अहोरात्र कितने दिन का होता है?

(क) एक चान्द्रमास का (ख) 30 दिन का (ग) सौरमास का (घ) नाक्षत्रमास का

8. पितृगण कहाँ रहते हैं?

(क) स्वर्ग में (ख) उत्तरी ध्रुव में (ग) चन्द्रगोल पर (घ) सूर्यगोल पर

9. गौरववर्ष भोग में गुरु की कौन सी गति ग्राह्य है?

(क) मध्यमा (ख) स्पष्टा (ग) वक्रा (घ) मन्दतरा

10. एक मनु में महायुग संख्या है।

(क) 14 (ख) 71 (ग) 12 (घ) 27

11. ब्रह्मा के एक अहोरात्र में कितने महायुग होते हैं?

(क) 1000 (ख) 3000 (ग) 2000 (घ) 432000

4.6 कालमानों का उपयोग–

सामान्यतया उपर्युक्त सभी नवविध कालमानों का दृष्ट एवं अदृष्टफलनिर्धारण में उपयोग होता ही है कोई भी मान निरर्थक या निरूपयोगी नहीं है तथापि इनमें सौर–चान्द्र–नाक्षत्र एवं सावन मानों का प्रयोग व्यवहार में नित्यप्रति ही दिखाई पड़ता है इसीलिए सूर्यसिद्धान्त में इसका स्पष्ट वर्णन मिलता है। यथा–

चतुर्भिर्व्यवहारोऽत्र सौरचान्द्रार्क्षसावनैः।
बार्हस्पत्येन षष्ट्यब्दं ज्ञेयं नान्यैस्तु नित्यशः।।

प्रस्तुत प्रसंग में इन चार कालमानों से पृथक्–पृथक् नहीं अपितु इनका समवेत मिश्रित रूप में ही व्यवहार होता है इसीलिए भास्कराचार्य ने ''**ज्ञेयं विमिश्रं तु मनुष्यमानं**'' कहा है। इसके अन्तर्गत संक्रान्ति, अयन, विषुव, ऋतु, वर्ष तथा युगादि हेतु सौरमान, मास तथा तिथि चान्द्रमान से, दिन, मास एवं वर्षेश का ज्ञान, ग्रहों की मध्यमा गति, व्रत, उपवास, चिकित्सा तथा सूतक आदि के निर्धारण में सावन मान एवं घटी, पलादि के प्रयोग में नाक्षत्र मान का प्रयोग होता है। जैसा की भास्कराचार्य ने कहा है–

वर्षायनर्तुयुगपूर्वकमत्रसौरान्, मासास्तथा च तिथयस्तुहिनांशुमानात्।
यत् कृच्छसूतकचिकित्सितवासराद्यं, तत्सावनाच्च घटिकादिकमार्क्षमानात्।।

इस प्रकार आपने भारतीय ज्योतिषशास्त्र के अनुसार काल का स्वरूप, इसके भेद एवं इसके उपयोग को जाना, यह व्यवस्था अतीव प्राचीन काल से ऐसी ही चलती आ रही है परन्तु इसमें कोई भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ जबकि इसके साथ ही अन्य कई गणना

विधियाँ विकृत होकर स्थूल हो गई। परन्तु यह विधा आज भी काल गणना की एक सूक्ष्मतम विधा बनी हुई है क्यों कि इसके अन्तर्गत इन मानों का आवश्यकता के अनुसार पृथक्–पृथक् प्रयोग करते हुए भी परस्पर सन्तुलन हेतु अधिमास एवं क्षयमास आदि अनेक पृथक् काल की इकाईयाँ पढ़ी गई हैं जिससे इन कालमानों में सन्तुलन बना रहता है तथा कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। अब आप अधिमास एवं क्षयमास के संक्षिप्त स्वरूप को जानेंगे।

4.7 अधिमास–

आपने पढ़ा कि भारतीय ज्योतिषशास्त्र की परम्परा के अन्तर्गत वर्ष प्रयोग हेतु सौरमान तथा मास प्रयोग हेतु चान्द्रमान का उपयोग होता है। यहाँ मेषादि बिन्दु से मीनान्त बिन्दु तक सूर्य के चक्र भोग से सौरवर्ष तथा एक राशि भोग से सौरमास होते हैं। इसी प्रकार चान्द्रमास दो अमावस्याओं के मध्यवर्ती काल द्वारा सिद्ध होते हैं। जिनका व्यवहार चैत्र, वैशाखादि नामों से होता है। परन्तु ये दोनों सौर एवं चान्द्रमास स्वतन्त्र न होकर परस्पर पूरक रूप में कार्य करते हैं। अतः चैत्रादि मास गणना के अन्तर्गत जिन दो अमावस्याओं के बीच सूर्य की संक्रान्ति होती है उन्हें ही मासों की क्रम गणना में स्थान मिलता है अन्यथा नहीं। इस प्रकार नियमाबद्ध होकर सूर्य की मेषादि संक्रान्तियों के दो अमावस्याओं के बीच होने से क्रमशः चैत्रादि से फाल्गुन तक बारह चान्द्रमास निर्धारित होते हैं। जैसा कि ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त में प्रतिपादित है–

मेषादिस्थे सवितरि यो यो मासः प्रपूर्यते चान्द्रः।
चैत्राद्यः स विज्ञेयः ....।।

इसके अतिरिक्त दो अमावस्याओं के मध्य सूर्य के किसी भी राशि की संक्रान्ति नहीं होने से चैत्रादि मासों की क्रम गणना में जिन्हें स्थान नहीं मिलता तथा वे अतिरिक्त मास होकर अधिक मास के रूप में व्यवहृत होते हैं। जैसा कि भास्कराचार्य में कहा है–

'असंक्रान्तिमासोऽधिमासः स्फुटं स्यात्।'

यह अधिमास रूपी काल सौर एवं चान्द्र मासों के परस्पर अन्तर से उत्पन्न होता है। क्यों कि एक चान्द्रमास में 29 |31 |50 सावनदिनादि तथा एक सौरमास में 30 |26 |17 |31 सावनदिनादि होते हैं। अतः यदि एक ही साथ सौर एवं चान्द्र मास का आरम्भ होता है तो सौरमास पूर्ति के 0 |54 |27 |31 दिनादि के पूर्व ही चान्द्रमास की पूर्ति हो जायेगी तथा प्रतिमास यह अन्तर बढ़ते–बढ़ते जब एक चान्द्र मास के तुल्य हो जाएगा तो उसमें सूर्य संक्रान्ति का अभाव होने से उसे असंक्रान्ति के कारण अधिकमास के रूप में स्वीकृत किया जाएगा। क्यों कि इस मास को नाम देने हेतु इसमें किसी राशि की सूर्य संक्रान्ति हुई ही नहीं जिससे यह अतिरिक्त मास के रूप में स्वीकार्य होगा। अधिकमास मध्यम मान से 32 मास 16 दिन तथा 4 घट्यादि के अन्तर से उपस्थित होता है। क्यों कि लगभग इतने दिनों में सौर एवं चान्द्रमासों का अन्तर प्रतिमास बढ़ते–बढ़ते एक चान्द्रमास के तुल्य हो जाता है।

4.8 क्षयमास –

अधिकमास के प्रसंग में आपने पढ़ा कि संक्रान्ति से युक्त अमान्तद्वयान्तर्वर्ती चान्द्रमास ही चैत्रादि क्रम गणना में प्रयुक्त होते हैं, इसके अतिरिक्त जिस चान्द्रमास में सूर्य की संक्रान्ति नहीं होती उसकी अधिमास संज्ञा हो जाती है ठीक उसी प्रकार जिस चान्द्रमास में सूर्य की दो राशियों की संक्रान्ति हो जाती है उस मास की आचार्यों ने क्षयमास संज्ञा की है। यथा क्षयाधिमास तत्त्वम् में–

स्फुटमानेन सूर्यस्य यदा संक्रमणद्वयम्।
भवेद्दर्शद्वयान्तस्थे क्षयमासस्तदा भवेत्।।

पूर्व में अधिकमास के प्रसंग में आपने पढ़ा है कि चान्द्रमासों में मेषादि संक्रान्ति से चैत्रादि संज्ञाएं निर्धारित होती हैं जैसे मेष संक्रान्ति से चैत्र, वृष संक्रान्ति से वैशाख आदि। अतः इसी प्रकार एक अमान्त के बाद धनु की सूर्य संक्रान्ति हुई तथा पुनः अग्रिम अमान्त के पूर्व ही मकर राशि की द्वितीय सूर्य संक्रान्ति हो गई तो पूर्व वाली धनु संक्रान्ति के कारण इस चान्द्रमास की मार्गशीर्ष तथा मकर संक्रान्ति के कारण पौष संज्ञा हो जाएगी। परन्तु यहाँ काल एक चान्द्रमासात्मक ही है अतः यहाँ सामंजस्य स्थापित करते हुए मार्गशीर्ष के प्रथम पक्ष (शुक्ल पक्ष) तथा पौष के द्वितीय पक्ष (कृष्ण पक्ष) का लोपकर एक मास तुल्य चान्द्रमास की क्षयमास संज्ञा हो जाती है।

<u>अभ्यास प्रश्न – 3</u>

1. अयन का निर्धारण किस मान के द्वारा होता है?
(क) सौर (ख) चान्द्र (ग) सावन (घ) बार्हस्पत्य

2. नाक्षत्रमान के द्वारा किसका व्यवहार होता है?
(क) व्रत (ख) मास (ग) वर्ष (घ) घटी

3. मास व्यवहार में कौन सा मान प्रयुक्त होता है?
(क) सौर (ख) चान्द्र (ग) सावन (घ) नाक्षत्र

4. सूतक निर्धारण में कौन सा मान प्रयुक्त होता है?
(क) सौर (ख) चान्द्र (ग) सावन (घ) नाक्षत्र

5. मेष की सूर्य संक्रान्ति वाले चान्द्रमास की संज्ञा होती है।
(क) चैत्र (ख) वैशाख (ग) ज्येष्ठ (घ) श्रावण

6. सूर्य संक्रान्ति से रहित चान्द्रमास को क्या कहते है?
(क) क्षयमास (ख) अधिमास (ग) न्यूनमास (घ) क्रममास

7. एक चान्द्रमास में दो सूर्य संक्रान्ति होने से उसकी क्या संज्ञा होती है?
(क) क्षयमास (ख) अधिमास (ग) मलमास (घ) संसर्प

4.9 सारांश –

काल दो प्रकार के होते हैं। एक सकल चराचरों का संहारक काल तथा दूसरा गणना में प्रयुक्त कलनात्मक काल। कलनात्मक काल भी सूक्ष्म एवं स्थूल के भेद से दो प्रकार का होता है। यहाँ त्रुट्यादि काल को सूक्ष्म एवं अमूर्त्त तथा प्राणादि काल को स्थूल एवं मूर्त्त संज्ञा से जानते हैं। भारतीय ज्योतिष में काल के नियमन हेतु मुख्यतया 9 भेद स्वीकार किए गये हैं। जिनमें से सौर, चान्द्र, सावन तथा नाक्षत्र मान से मानव जीवन में सामान्य व्यवहार होता है। इनके परस्पर सन्तुलन हेतु अधिकमास एवं क्षयमास की भी कल्पना है। यहाँ सूर्य के एक अंश भोग से सौर दिन, सूर्य–चन्द्रमा के 12–12 अंशों के अन्तर से चान्द्र दिन, दो सूर्योदयों के अन्तर से सावन दिन, नक्षत्रों के दो उदय से नाक्षत्र दिन, संक्रान्ति से रहित मास को अधिकमास, दो संक्रान्ति वाले चान्द्रमास को क्षयमास कहते हैं। इस प्रकार भारतीय ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत सुव्यवस्थित रूप से पूर्ण वैज्ञानिक काल की व्यवस्था प्रतिपादित है। अन्य कहीं भी किसी विद्या के अन्तर्गत इतनी सूक्ष्म एवं सुव्यवस्थित काल व्यवस्था का वर्णन नहीं मिलता है। अतः हम लोग कृतज्ञ हैं अपने पूर्वज महर्षियों के जिन्होंने इस प्रकार की काल व्यवस्था हमें प्रदान की।

4.10 शब्दावली –

अहोरात्र = दिन और रात्रि

दिन = सूर्योदय से सूर्यास्त तक का काल

प्रवह वायु = आकाश मण्डल में स्थित सात प्रकार की वायु में से एक वायु का प्रकार जो सभी ग्रह–नक्षत्रों को पश्चिमाभिमुख निरन्तर घूमाती रहती है।

भचक्र = जिस मण्डल में सभी ग्रह–नक्षत्र–राशियाँ स्थित है।

त्रुटि = काल की सूक्ष्मतम इकाई।

कल्प = काल की महत्तम इकाई।

4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ –

(1) सूर्य सिद्धान्त।

(2) सिद्धान्त शिरोमणि।

(3) शिष्यधिवृद्धिदम् ।

(4) ज्योतिष–सिद्धान्त–मंजूषा।

4.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

अभ्यास प्रश्न – 1 का उत्तर–

1. – (ख) 02 2. – (ग) लीक्षक

3.	–	(क) 02	4.	–	(घ) त्रुटि
5.	–	(घ) 24	6.	–	(ग) प्राण
7.	–	(ख) 60	8.	–	(घ) 60

अभ्यास प्रश्न – 2 का उत्तर–

1.	–	(घ) 09	2.	–	(ग) नाक्षत्र
3.	–	(क) चान्द्र	4.	–	(ख) 12
5.	–	(क) सौर	6.	–	(घ) सावनदिन
7.	–	(क) एक चान्द्रमास का	8.	–	(ग) चन्द्रगोल पर
9.	–	(क) मध्यमा	10.	–	(ख) 71
11.	–	(ग) 2000			

अभ्यास प्रश्न – 3 का उत्तर–

1.	–	(क) सौर	2.	–	(घ) घटी
3.	–	(ख) चान्द्र	4.	–	(ग) सावन
5.	–	(क) चैत्र	6.	–	(ख) अधिमास
7.	–	(क) क्षयमास			

4.13 अभ्यास प्रश्न –

(1) नाक्षत्र एवं सावन दिनों का परिचय दें।

(2) चान्द्रमास किसे कहते हैं?

(3) नवविध कालमानों का नाम बताएं।

(4) अधिकमास की परिभाषा लिखें।

(5) क्षयमास की परिभाषा दें।

इकाई - 5 दिग् व्यवस्था एवं भेद

इकाई की संरचना

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 दिक् परिचय
5.4 दिक् ज्ञान विधि
अभ्यास प्रश्न – 1
5.5 स्थूल दिक् साधन
5.6 सूक्ष्म दिक् साधन
अभ्यास प्रश्न – 2
5.7 सूक्ष्म दिक् साधन की अन्य विधियाँ
अभ्यास प्रश्न – 3
5.8 सारांश
5.9 पारिभाषिक शब्दों के अर्थ
5.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.11 सहायक ग्रन्थ सूची
5.12 अभ्यासार्थ व्याख्यात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना–

प्रस्तुत इकाई एम.ए. ज्योतिष पाठ्यक्रम (प्रथम वर्ष) की पत्र संख्या MAJY-101 के अन्तर्गत ''भारतीय ज्योतिष का परिचय एवं इतिहास'' शीर्षक पाठ में पंचम इकाई है, इस इकाई के अध्ययन क्रम में आप ''दिग् व्यवस्था एवं भेद'' नामक शीर्षक में दिग् व्यवस्था से सम्बन्धित समग्र ज्ञान प्राप्त करेंगे। दिग् व्यवस्था ज्योतिषशास्त्र का एक महत्वपूर्ण विषय है जिसके बिना आकाश में विद्यमान किसी ग्रह–नक्षत्रादि पिण्ड एवं इस भूपृष्ठ पर स्थित किसी व्यक्ति, वस्तु या पदार्थ की स्थिति का किसी के द्वारा आंकलन नहीं किया जा सकता क्योंकि सिद्धान्त ग्रन्थों में वर्णित नियमानुसार अहर्गण साधनपूर्वक ग्रहभगणों की सहायता से अनुपात द्वारा सिद्ध लंकादेशीय मध्यमग्रहों को स्वदेश के क्षितिज में करने के लिए देशान्तर एवं चरान्तर संस्कार में, ग्रह–नक्षत्रादि के वेध कर्मों में, ग्रह–छाया–शर–ग्रहण–ग्रहयुति–श्रृंगोन्नति आदि के ज्ञान में, संहिता स्कन्ध के अन्तर्गत आकाश परीक्षण तथा वास्तु के विनियोग में तथा मुहूर्तादि में इसका उपयोग अपरिहार्य रूप में सिद्ध होता है। इतना ही नहीं अपितु ज्योतिषशास्त्र के वेदांग स्वरूप में अपने मुख्य प्रयोजन की सिद्धि हेतु यागादि में यज्ञमण्डप, देव–वेदी, हवन–कुण्ड आदि के निर्माण में तथा इसके अतिरिक्त भी व्यवहारिक जीवन के अन्यान्य कर्मों की सिद्धि हेतु इसका विचार सर्वप्रथम किया जाता है। केवल ज्योतिषशास्त्र ही नहीं अपितु भारतीय दर्शन शास्त्र, आधुनिक विज्ञान एवं सामाजिक विषयों के प्रयोजन सिद्धि में भी इसकी अपरिहार्य भूमिका होती है, इसीलिए ज्योतिष एवं इसके सहायक अन्य शास्त्रों को ठीक–ठीक समझने के लिए इसका ज्ञान होना आप सबके लिए परम आवश्यक है।

5.2 उद्देश्य

दिग्व्यवस्था एवं भेद का अध्ययन कर आप भली–भाँति जान सकेंगे कि–

- ✓ दिग् व्यवस्था क्या है?
- ✓ दिग् व्यवस्था का आधार क्या है?
- ✓ दिग् साधन कैसे करते हैं?
- ✓ दिशाओं की उपयोगिता क्या है?
- ✓ दिग् ज्ञान की उपयोगिता क्या है?
- ✓ प्राचीन काल में दिग् ज्ञान की क्या विधियाँ रही हैं?
- ✓ आधुनिक समाज में दिग् ज्ञान कैसे होता है?

इतना ही नहीं अपितु इसके ज्ञान से आपको ग्रहगणित के सिद्धान्तों को समझने में भी सहायता प्राप्त होगी। ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्त स्कन्ध में **''दिग्देशकालाः सकलोपयुक्ताः''** आदि वर्णन के अतिरिक्त संहिता एवं होरा स्कन्ध के अन्तर्गत भी आचार्यों नें अपने मूल ग्रन्थों में दिग् ज्ञान के प्रयोजन को स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया है। यथा–

मण्डपं देवसदनं गृहं चैव जलाशयाः।

प्रसादो वाटिका हानिः कुर्याद् दिक्शोधनं विना।।

अर्थात् यज्ञादि में, देवमण्डप, वेदी तथा हवन कुण्ड निर्धारण में, गृह निर्माण में, प्रकोष्ठ तथा द्वार निर्धारण में, देव मन्दिर निर्माण में, जलाशय में, वाटिका में तथा अन्यान्य विषयों में दिग् सम्बन्धित दोष उपस्थित होने पर कुल का नाश तथा कर्त्ता की हानि होती है। अतः आप इसके ज्ञान से उपर्युक्त दोषों का निवारण कर सकेंगे।

5.3 दिक् परिचय–

इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान ग्रह–नक्षत्रादि पिण्डों की स्थिति की जानकारी को प्राप्त कर प्रत्यक्ष वेधपूर्वक उनको देखने के लिए एवं इस भूपिण्ड पर विद्यमान सकल चराचरों के सापेक्ष अपनी स्थिति निर्धारित करते हुए अपने एवं किसी भी वस्तु के परिज्ञान के लिए हमारे ऋषि–महर्षियों एवं आचार्यों नें अनेक व्यवस्थाओं की परिकल्पना की है जिसमें दिग् व्यवस्था एक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है। इसके द्वारा ही ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत एवं इस पृथ्वी पर किसी की स्थिति का निर्धारण किया जा सकता है। क्यों कि इस अनन्त ब्रह्माण्ड में एवं अति विस्तृत इस भूपिण्ड पर किसी भी वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ या पिण्ड को देखने के लिए शून्य में अपने आप को कहां स्थापित कर स्वयं के सापेक्ष उसे कहां ढूंढ़ा जाय इसके लिए दिग् व्यवस्था ही एक मात्र आश्रय है। इसकी पारिभाषिक व्युत्पत्ति के प्रसंग में प्राप्त होता है कि **''प्राच्यादिव्यवहारहेतोः दिक्''** तथा च–

कृत्वैकमवधिं तस्मादिदं पूर्वंच पश्चिमम्।

इति निर्दिश्यते देशो यया सा दिगिति स्मृता।।

अर्थात् जिसके द्वारा पूर्व–पश्चिम आदि संज्ञाओं से एक देश के सापेक्ष दूसरे देश का

बोध होता है इसे दिग् या दिशा के नाम से जाना जाता है। शास्त्रों में इसके दिग्, दिक्, दिशा, काष्ठा, आशा, ककुभ् आदि पर्यायवाची शब्द प्राप्त होते हैं। ये दिशाएँ दश प्रकार की होती हैं जिन्हें क्रमशः पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान, उर्ध्व तथा अधः के नाम से जाना जाता है। इनमें भी पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ये चार दिशाएँ तथा आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान ये चार विदिशाएँ हैं, इन सबके साथ उर्ध्व एवं अधः नामक

दो अवयव और हैं। इस प्रकार इन सबको मिलाकर दिशाओं की संख्या दश होती है।

5.4 दिक् ज्ञान विधि–

ऊपर आपने पढ़ा है कि दिशाएँ पूर्वादि भेद से दश प्रकार की होती हैं। जिनका उपयोग किसी भी एक स्थान से दूसरे स्थान का निर्धारण करने में किया जाता है। वर्त्तमान समाज वैज्ञानिक एवं सामाजिक दृष्टि से अति उन्नत हो गया है अतः आजकल सभी लोग कम्पास नामक या अन्य किसी आधुनिक यन्त्र से पूर्वादि दिशाओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं, परन्तु पुरातन काल में जब विज्ञान इतना उन्नत नहीं था तथा इससे सम्बन्धित सुविधाएँ सबके लिए सुलभ नहीं थी तब भी हमारे ऋषि–महर्षि एवं आचार्यगण ग्रह–नक्षत्रादि के वेध के द्वारा अथवा सूर्य की छाया के द्वारा पूर्वादि दिशाओं का ज्ञान करते थे। अतः हमारे प्राचीन शास्त्रों में दिग् ज्ञान की जो विधियाँ महत्त्वपूर्ण पढ़ी गई हैं उनका हम उपस्थापन यहाँ कर रहे हैं–

प्रस्तुत सन्दर्भ में दिग्ज्ञान की भी दो विधियाँ शास्त्रों में वर्णित हैं, जिसमें प्रथम स्थूल दिग्ज्ञान विधि है जिसके द्वारा सामान्य कार्य व्यवहार हेतु सरल विधियों से दिग्ज्ञान किया जाता है तथा द्वितीय दिग्ज्ञान की विधि सूक्ष्म होती है जिसमें श्रमपूर्वक गणित व्यवहार एवं सूक्ष्म कार्यों के सम्पादन हेतु सूक्ष्म दिग्ज्ञान होता है। आचार्यों नें सिद्धान्त ग्रन्थों में स्थूल एवं गणितीय प्रयोग हेतु सूक्ष्म दिग्ज्ञान विधि का विचार पूर्वक प्रतिपादन किया है।

5.5 स्थूल दिक् साधन–

यत्रोदितोऽर्कः किल तत्र पूर्वा तत्रापरा यत्र गतः प्रतिष्ठाम्।

तन्मत्स्यतोऽन्ये च ततोऽखिलानामुदकस्थितो मेरुरितिप्रसिद्धम्।।

भास्कराचार्य के इस वचन के अनुसार सभी स्थानों पर जिस दिशा में सूर्य का उदय होता है वह उस स्थान की पूर्व दिशा तथा जिस दिशा में सूर्य का अस्त होता है वह पश्चिम दिशा होती है। इस प्रकार पूर्व और पश्चिम दिशा का सूर्योदय एवं सूर्यास्त देखकर निर्धारण करने के बाद पुनः पूर्व और पश्चिम बिन्दुओं की सहायता से पूर्वाभिमुख खड़े होकर वाम भाग द्वारा उत्तर और दक्षिण भाग द्वारा दक्षिण दिशा का निर्धारण किया जाता है। इसके अतिरिक्त भी आचार्य ने लिखा है कि समग्र भूमण्डल पर स्थित व्यक्तियों के लिए सुमेरु उत्तर दिशा में होता है। अतः सुमेरु से 180^0 दूसरी तरफ दक्षिण दिशा सिद्ध होगी। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में सूर्योदय तथा सूर्यास्त के द्वारा दिग्साधन करने से व्यवहारिक उपयोग में भी अनुभव हीनता से अनेक समस्याएं दिग् निर्धारण में उपस्थित हो जाती हैं क्यों कि सूर्य के विषुवत् रेखा से 23^0। 27′ (परम क्रान्ति तुल्य) उत्तर से लेकर विषुवत् रेखा से 23^0।

27′ दक्षिण तक भ्रमण करने के कारण 46^0। 54′ के बीच में हर स्थान पर सूर्योदय एवं सूर्यास्त का स्थान क्रमशः रोज बदलता रहेगा जिससे एक जगह पर भी प्रतिदिन पूर्वादि दिशाएं भिन्न–भिन्न होती रहेंगी। अतः 46^0। 54′ के मध्य किस बिन्दु के सूर्योदय को पूर्व बिन्दु मानकर किसी कार्य व्यापार का सम्पादन किया जाय एतदर्थ आचार्यों ने सूक्ष्म दिग्ज्ञान की व्यवस्थाएं दी हैं क्यों कि यागादि कर्म में स्वल्प दिग्दोष उपस्थित होने पर भी उनके फल नहीं मिलते है। अतः आचार्यों नें इस प्रपंच से मुक्ति के लिए सूक्ष्म प्रकार से दिग् साधन की अनेक विधियाँ ग्रन्थों में दी हैं जिनमें से कुछ विधियों का उपस्थापन यहाँ करेंगे।

अभ्यास प्रश्न – 1

(1) किस कार्य में सूक्ष्म दिक्साधन की आवश्यकता नहीं होती है?

(क) गृहनिर्माण (ख) यज्ञवेदी निर्माण

(ग) वाटिका रोपण (घ) यात्रा

(2) दिशाएँ कितनी होती हैं?

(क) 04 (ख) 08 (ग) 10 (घ) 12

(3) निम्नलिखित में दिशा का पर्यायवाची शब्द है।

(क) आशा (ख) निराशा (ग) पुरी (घ) सुवासा

(4) स्थूल विधि में सूर्यास्त द्वारा किस दिशा का ज्ञान होता है?

(क) पूर्व (ख) पश्चिम (ग) उत्तर (घ) दक्षिण

(5) प्राचीन काल में दिग्ज्ञान का मुख्य साधन था।

(क) चन्द्रमा (ख) सूर्य (ग) पृथ्वी (घ) आकाश

(6) पृथ्वी पर सुमेरु किसके उत्तर दिशा में स्थित है?

(क) साक्ष देश के (ख) निरक्ष देश के

(ग) कदम्ब स्थान के (घ) इन सभी के

5.6 सूक्ष्म दिक् साधन–

अब तक आपने सामान्य कार्यों के निष्पादन हेतु स्थूल दिशाओं का ज्ञान प्राप्त किया अब आप सूक्ष्म दिग्ज्ञान विधि समझेगें–

शिलातलेऽम्बुसंशुद्धे वज्रलेपेऽपि वा समे।

तत्र शङ्क्वंगुलैरिष्टैः समं मण्डलमालिखेत्।।

तन्मध्ये स्थापयेच्छंकुं कल्पनाद्द्वादशांगुलम्।

तच्छायाग्रं स्पृशेद्यत्र वृत्ते पूर्वापरार्धयोः।।

तत्र बिन्दू विधायोभौ वृत्ते पूर्वापराभिधौ।

तन्मध्ये तिमिनारेखा कर्त्तव्या दक्षिणोत्तरा।।

याम्योत्तरदिशोर्मध्ये तिमिना पूर्व–पश्चिमा।

दिङ्मध्यमत्स्यैः संसाध्या विदिशस्तद्वदेवहि।।

इस प्रकार ज्योतिषशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त में दिग् ज्ञान की सूक्ष्म विधि का ग्रन्थकार ने प्रतिपादन किया है। इस विधि में श्लोकोक्त नियमानुसार सर्वप्रथम भूमि को पूर्ण समतल बनाकर अथवा वज्रलेप के द्वारा समतल फर्श का निर्माण कर जल सम्प्रसारण विधि अथवा किसी अन्य माध्यम से समतल भूमि अथवा वज्रलेप का समतलत्व परीक्षण कर पुनः सूक्ष्म दिग्ज्ञान की प्रक्रिया आरम्भ करेंगे–

दिक् साधन में उपयुक्त समतल किए गए स्थान पर सर्वप्रथम अपने अभीष्ट कल्पित व्यासार्द्ध के द्वारा एक वृत्त का निर्माण करेंगे, परन्तु वह वृत्त उस स्थान के मध्याह्न काल में बारह अंगुल के शंकु की छाया जितनी बड़ी बनती हो उससे बड़े व्यासार्द्ध द्वारा निर्मित होनी चाहिए अन्यथा उसके द्वारा सूक्ष्म दिग्ज्ञान का साधन नहीं हो सकेगा। अतः उस स्थान के मध्याह्नकालिक छाया से बड़े व्यासार्द्ध से निर्मित वृत्त के केन्द्र में बारह अंगुल का शंकु स्थापित कर दिक् साधन की प्रक्रिया के अन्तर्गत सर्वप्रथम सूर्य की किरणों के वृत्तकेन्द्रस्थ शंकु के अवरोध से उत्पन्न छाया का परीक्षण करते हुए यह देखेंगे कि दिग्ज्ञानार्थ निर्मित इस वृत्त में केन्द्रस्थ शंकु की छाया परिधि में कहां से बाहर निकल रही है तथा किस स्थान से उस वृत्त में अन्दर प्रविष्ट हो रही है। अब छाया के प्रवेश एवं निर्गम इन दोनों स्थानों का पहचान कर चिह्न लगा देंगे। प्रस्तुत सन्दर्भ में केन्द्रस्थ द्वादशांगुल शंकु की छाया सूर्योदय के आसन्नवर्ती काल में सूर्योदय की विपरीत दिशा में उस वृत्त की परिधि से बाहर निकलेगी तथा सूर्यास्त के आसन्नवर्ती काल में सूर्यास्त से विपरीत दिशा में दिग्ज्ञापक वृत्त की परिधि में प्रविष्ट करेगी क्यों कि सूर्योदय काल में सूर्य के क्षिजितवृत्त में होने के कारण उस वृत्त के केन्द्र में स्थापित शंकु की छाया बहुत दूर तक जाएगी तथा सूर्य जैसे–जैसे क्षिजित से ऊपर जाएगा वैसे–वैसे छाया छोटी होती हुई वृत्त परिधि के किसी एक बिन्दु से उस वृत्त में प्रवेश करती हुई मध्याह्नकाल में शून्य अथवा सर्वाल्प हो जाएगी। पुनः

मध्याह्नकाल के अनन्तर सूर्य के खमध्य से पश्चिम गोलार्ध में धीरे–धीरे नीचे आने की स्थिति में शंकु की छाया पुनः बढ़ती हुई सूर्य की विरुद्ध दिशा में वृत्तपरिधि के किसी एक बिन्दु से उस वृत्त से बाहर निकलती हुई बहुत दूर तक जाएगी। अतः इन दोनों प्रवेश और निर्गम कालिक छाया के स्थान का पहचान कर उस स्थान को चिह्नित कर देंगे तथा इसके बाद पुनः उन दोनों स्थानों में गई हुई एक सरल रेखा खीचेंगे, यह रेखा उस स्थान के लिए पूर्वापर रेखा के समानान्तर रेखा सिद्ध होगी जिसमें छाया प्रवेश स्थान पश्चिम दिशा तथा छाया निर्गम स्थान पूर्व बिन्दु को सूचित करेगा। परन्तु यह मत सूर्यसिद्धान्तकार का है, जिसमें छाया निर्गम एवं छाया प्रवेश काल में गई हुई रेखा पूर्वापर रेखा के समानान्तर होकर पूर्व एवं पश्चिम दिशा को क्रमशः सूचित करेगी पर सूक्ष्म विवेचनापूर्वक भास्कराचार्य आदि विद्वानों ने इस रेखा को वास्तविक पूर्वापर रेखा की समानान्तर रेखा नहीं मानते हुए कुछ संस्कार पूर्वक वास्तविक पूर्वापर रेखा के साधन की विधि बताई है। क्यों कि सूर्यसिद्धान्तोक्त उपर्युक्त विधि में एक दिन में सूर्य के क्रान्ति की शून्य तुल्य गति की कल्पना कर दिग्ज्ञान किया गया है परन्तु सूर्य की क्रान्ति के प्रतिक्षण चल होने से उक्त नियम पूर्ण शुद्ध नहीं है। तथापि सायन मकरादि और सायन तुलादि बिन्दु पर सूर्य के स्थित होने की स्थिति में इस विधि से दिक् साधन कुछ शुद्ध होगा क्यों कि इन दिनों में सूर्य के क्रान्ति की गति अत्यल्प होती है। अतः इसके अतिरिक्त अन्य दिनों में इसकी सूक्ष्मता और भी अधिक प्रभावित होगी। वास्तविक रूप में छाया प्रवेश एवं निर्गम बिन्दु द्वारा पूर्वापर रेखा के समीपवर्ती पूर्वापर सूचक जिस रेखा का निर्माण होगा वह रेखा क्रान्ति के प्रतिक्षण चल होने से सूर्य के याम्योत्तर भ्रमण के कारण शंकु छाया के प्रवेशकालिक तथा शंकुछाया के निर्गमकालिक नतांशों के समान रहने पर भी गोल के गर्भ में बनने वाले पूर्वापर सूत्र तथा छायाग्र के मध्य निर्मित भुजों के असमान होनें से प्रवेश एवं निर्गम बिन्दुगत रेखा पूर्वापर रेखा के समानान्तर नहीं होगी क्यों कि यह रेखा प्रवेशकालिक छाया तथा निर्गमकालिक छाया के अग्रभाग को स्पर्श करते हुए बनेगी तथा इन दोनों के भुज रूप में असमान होने से यह भुजोत्पादक पूर्वापर रेखा से असमानान्तर बनेगी। अतः इन दोनों छायाओं के मान का अन्तर परिगणित कर दिग्ज्ञानार्थ निर्मित वृत्त में छाया निर्गम चिह्न पर सूर्य की अयन दिशा में उस अन्तर का धन या ऋण रूप में संस्कार करने से छायाग्रगत सूत्र का पूर्वापरत्व सिद्ध होगा। इसका प्रतिपादन आचार्य श्रीपति ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्तशेखर में भी किया है। यथा–

याति भानुरपमण्डलवृत्ताद्दक्षिणोत्तरदिशोरनुलोमम्।

तेन सा दिगनृजुः प्रतिभाति स्यादृजुः पुनरपक्रममौर्व्या।।

अर्थात् सूर्य के क्रान्तिवृत्त में स्थित होकर पूर्वाभिमुख भ्रमण करने के साथ ही क्रान्तिवृत्त की भी याम्योत्तरा गति होने के कारण सूर्य उत्तर और दक्षिण में भी भ्रमण करता रहता है।

जिससे एक दिन के सूर्योदय एवं सूर्यास्त काल में सूर्य किसी एक पूर्वापर रेखा में स्थित नहीं हो पाता है। अतः उन दोनों समयों की क्रान्तियों की ज्याओं का ज्ञान कर उनका अन्तर करके किसी एक बिन्दु में नियमानुसार संस्कार करने से उसका पूर्वापरत्व सिद्ध होगा अन्यथा नहीं। इसलिए सूर्यसिद्धान्त के परवर्ती आचार्यों नें सूक्ष्म विधि का निर्देश करते हुए दिग्ज्ञान साधन का निरूपण किया है। यथा भास्कराचार्य–

वृत्तेऽम्भः सुसमीकृते क्षितिगते केन्द्रस्थशंकोः क्रमात्

भाग्रं यत्र विशत्युपैति च यत्रस्तत्रापरेन्द्र्यौ दिशौ।

तत्कालापमजीवयोस्तु विवराद्भाकर्णमित्याहता–

ल्लम्बज्याप्तमितांगुलैरयनदिश्यैन्द्री स्फुटा चालिता।।

अर्थात् पूर्वोक्त जल सम्प्रसारण विधि से भूमि का समतलत्व परीक्षण कर उस समतल भूमि पर इष्ट व्यासार्द्ध द्वारा एक वृत्त का निर्माण कर उस वृत्त के केन्द्र में एक द्वादशांगुल शंकु की स्थापना करेंगे और छाया का परीक्षण करेंगे। पुनः पहले बताए हुए नियमानुसार ही शंकु की छाया सूर्योदय एवं सूर्यास्त के आसन्न काल में दिग्ज्ञानार्थ निर्मित वृत्त में जहाँ प्रवेश करेगी तथा जहां से निर्गम होगी वहाँ चिह्न लगाकर पुनः छाया प्रवेश तथा निर्गम कालिक भुजाग्रों का अन्तर ज्ञात कर छाया निर्गम बिन्दु पर सूर्य के अयन दिशा में संस्कार करने से जो बिन्दु प्राप्त होगी उस बिन्दु पर तथा उसके विरुद्ध दिशा में स्थित छाया प्रवेश बिन्दु पर गई हुई रेखा का निर्माण करने से यह रेखा पूर्वापर रेखा के समानान्तर रेखा बनेगी। संस्कार हेतु सूर्य यदि कर्कादि छः राशियों में हो तो दक्षिणायन एवं मकरादि छः राशियों में हो तो उत्तरायण सूर्य होता है। अतः उत्तरायण होने पर पूर्व बिन्दु से उत्तर में तथा दक्षिणायन होने पर दक्षिण में फल का संस्कार कर स्पष्ट पूर्व दिशा का ज्ञान होगा। दोनों भुजाग्रों का अन्तर ज्ञात करने के लिए आचार्यों नें निम्नलिखित विधि का निर्देश किया है। इस क्रम में दिग्ज्ञानार्थ निर्मित वृत्त में छाया प्रवेश तथा निर्गम काल का ज्ञान कर उन दोनों समयों की स्पष्ट सूर्य क्रान्ति का साधन करेंगे तथा पुनः उनकी ज्या बनाकर इन दोनों क्रान्तिज्याओं के अन्तर को छायाकर्ण से गुणाकर लम्बज्या से भाग देगें, इस गणित प्रक्रिया से जो फल प्राप्त होगा वही प्रवेश एवं निर्गमकालिक भुजाग्रों का अन्तर होगा। अतः इस अन्तर फल का सूर्य की अयन दिशा में उत्तर या दक्षिण में पूर्व बिन्दु पर संस्कार करने से शुद्ध पूर्व बिन्दु प्राप्त होगा। प्रस्तुत प्रसंग में वर्णित अक्षज्या, लम्बज्या, पलकर्ण का ज्ञान आप ''गोल परिभाषा'' या ''सूर्यसिद्धान्त'' आदि सिद्धान्त ग्रन्थों की सहायता से प्राप्त करेंगे। उपर्युक्त गणित की उपपत्ति अक्षक्षेत्र के द्वारा सिद्ध होती है। क्यों कि **''भुजोऽक्षभा कोटिरिनांगुलोना कर्णोऽक्षकर्णः खलु मूलमेतत्''** इत्यादि के द्वारा भास्कराचार्य नें जिन आठ अक्षक्षेत्रों का वर्णन किया है उनमें लम्बज्या कोटि, अक्षज्या भुज तथा त्रिज्या कर्ण द्वारा

निर्मित त्रिभुज तथा क्रान्तिज्या कोटि, कुज्या भुज एवं अग्रा कर्ण द्वारा निर्मित त्रिभुज के सजातीय होने से परस्पर समानता के कारण अनुपात सिद्ध होता है कि यदि प्रथम त्रिभुज के लम्बज्या कोटि में त्रिज्या कर्ण प्राप्त होता है तो द्वितीय त्रिभुज के अन्तर्गत क्रान्तिज्या कोटि में क्या प्राप्त होगा? तो इसमें अग्रा कर्ण प्राप्त होता है–

$$\frac{\text{त्रिज्या} \times \text{क्रान्तिज्या}}{\text{लम्बज्या}} = \text{अग्रा।}$$

सैद्धान्तिक नियमानुसार गोलपृष्ठ पर निर्मित पूर्वापर वृत्त तथा अहोरात्र वृत्तों के मध्य क्षितिज वृत्त में अग्रा होती है। ''**पूर्वापरद्युरात्रान्तः क्षिजितेऽग्रांशकास्तथा**'' तथा ग्रह स्थान से अपने क्षितिज वृत्त के धरातल पर किया गया जो लम्ब है उसे इष्ट शंकु कहते है। इष्ट शंकु के मूल से पूर्वापर सूत्र का अन्तर भुज के तुल्य तथा अपने उदयास्त सूत्र का अन्तर शंकुतल होता है। पुनः इस भुज और शंकुतल के स्थितिवश योग या अन्तर रूप संस्कार से पूर्वापर सूत्र तथा उदयास्त सूत्र के मध्य अग्रा की प्राप्ति होती है। अतः

$$\text{अग्रा} \pm \text{शंकुतल} = \text{भुज।}$$

यहाँ पूर्व में आगत अग्रा का मान इस अग्रा के स्थान पर रखने से –

$$\frac{\text{त्रिज्या} \times \text{क्रान्तिज्या}}{\text{लम्बज्या}} \pm \text{शंकुतल} = \text{भुज।}$$

हम सभी जानते हैं कि गोलपृष्ठ पर अनेक वृत्त बनते हैं जिनमें से यह भुज त्रिज्या वृत्तीय सिद्ध होता है। अतः दिग् साधन के लिए इस त्रिज्या वृत्तीय भुज को छायाकर्ण वृत्त में परिवर्तित करते हैं तब यह भुज कर्ण वृत्तीय होता है।

$$\therefore \text{भुज} = \frac{\text{त्रिज्या} \times \text{क्रान्तिज्या} \times \text{छायाकर्ण}}{\text{त्रिज्या} \times \text{लम्बज्या}} \pm \frac{\text{शंकुतल} \times \text{छायाकर्ण}}{\text{त्रिज्या}}$$

$$= \text{भुज} = \frac{\text{क्रान्तिज्या} \times \text{छायाकर्ण}}{\text{लम्बज्या}} \pm \frac{\text{शंकुतल} \times \text{छायाकर्ण}}{\text{त्रिज्या}}$$

($\because$ कर्णवृत्त में $\frac{\text{शंकुतल} \times \text{छायाकर्ण}}{\text{त्रिज्या}}$ का मान पलभा के तुल्य होता है।)

$$\therefore \text{भुज} = \frac{\text{क्रान्तिज्या} \times \text{छायाकर्ण}}{\text{लम्बज्या}} \pm \text{पलभा।}$$

इस गणितीय विधि से हम दिग् साधन हेतु निर्मित वृत्त में छाया प्रवेश तथा छाया निर्गम काल के भुजों का साधन करेंगे तथा फिर उन दोनों भुजाओं का अन्तर साधित कर अग्रिम क्रम में प्रवृत्त होंगे–

$$\left(\frac{\text{छाया प्रवेश कालिक क्रान्तिज्या} \times \text{छाया प्रवेश कालिक छायाकर्ण}}{\text{लम्बज्या}} \pm \text{पलभा}\right) \backsim \left(\frac{\text{छाया निर्गम कालिक क्रान्तिज्या} \times \text{छाया निर्गम कालिक छायाकर्ण}}{\text{लम्बज्या}} \pm \text{पलभा}\right)$$

$$= \frac{(\text{छाया प्रवेश कालिक क्रान्तिज्या} \backsim \text{छाया निर्गम कालिक क्रान्तिज्या}) \times \text{छायाकर्ण}}{\text{लम्बज्या}}$$

= प्रवेशकालिक तथा निर्गम कालिक भुजों का अंगुलात्मक अन्तर।

इस प्रकार प्रवेश एवं निर्गम कालिक भुजों का अन्तर प्राप्त कर दिग्ज्ञानार्थ निर्मित वृत्त परिधि के पूर्व बिन्दु पर सूर्य की अयन दिशा में इस अंगुलात्मक अन्तर को जोड़ने या घटाने से वास्तविक पूर्व दिशा सिद्ध होती है। अब इस पूर्व बिन्दु से पश्चिम बिन्दु तक रेखा बनाकर पूर्वापर के समानान्तर रेखा सिद्ध होती है। परन्तु पूर्वोक्त **''वृत्तेऽम्भः सुसमीकृते क्षितिगते ....''** इत्यादि श्लोक की सहायता से भास्करादि आचार्यों के द्वारा साधित दिग्ज्ञान भी पूर्णतया शुद्ध एवं सूक्ष्म नहीं होगा, क्यों कि उपर्युक्त नियमानुसार अंगुलात्मक भुजान्तर का दिग्ज्ञापक भूपरिधि में संस्कार करने से भी स्वल्पान्तर दोष उत्पन्न होगा क्यों कि छाया प्रवेशकालिक एवं निर्गमकालिक भुजान्तर का मान अंगुलात्मक एवं ज्यारूप में प्राप्त होगा परन्तु वृत्त की परिधि चापात्मक होती है। अतः ज्या और चाप के मध्य अन्तर होने के कारण यह संस्कार भी असमान जाति का होने से स्थूल होगा। इसीलिए आचार्य कमलाकर भट्ट ने आचार्य भास्करोक्त उक्त विधि का भी खण्डन करते हुए सूक्ष्मतर दिग्ज्ञान की विधि का निरूपण किया है। यथा–

अथात्र वृत्तं समभूमिपृष्ठे कार्यं च तच्चक्रकलाङ्कितं च।

तत्केन्द्रगाल्लम्बनिभार्कशंकोश्छायाग्रकं यत्र विशत्युपैति।।

वृत्ते परेन्द्र्यौ भवतौ दिशौ च तत्कालदृग्ज्याग्रगतौ भुजौ यौ।

छायोत्थकर्णेन गुणौ विभक्तौ छायाप्रमाणेन तयोस्तु चापे।।

एकान्यदिक्त्वे तु तदन्तरैक्यकलाभिरैन्द्री चलिताऽयनांशा।

वृत्तौ स्फुटाख्या खलु गोलयुक्त्या तन्मत्स्यतः स्यादिह याम्यसौम्या।।

यहां पर भी आचार्य कमलाकर भट्ट नें पूर्वोक्त विधि से प्रवेश एवं निर्गमकालिक भुजों का अन्तर दिगंश रूप में निकालकर उन दिगंशान्तर का वृत्तपरिधि में संस्कार कर सूक्ष्म दिक् साधन किया है। यहां उन्होंने त्रिज्या, दिग्ज्या एवं दिगंशकोटिज्या तथा दृग्ज्या, इसके अग्र में गया भुज एवं इसकी कोटि इन दोनों त्रिभुजों के सजातीय अनुपात द्वारा दिग्ज्या का साधन किया है। यथा–

$$\frac{\text{भु.} \times \text{त्रि.}}{\text{ज्यादृ.}} = \text{ज्यादि.} \quad \frac{\text{भु.} \times \text{छाक.}}{\text{छाया}} = \text{दिग्ज्या}$$

अतः इसका चाप दिगंश सिद्ध होता है। इस प्रकार प्रवेश एवं निर्गम इन दोनों कालों के दिगंशों का साधन करके इनका एक दिशा में योग तथा भिन्न दिशा में अन्तर करने से जो मान प्राप्त हो उसका छाया वृत्त में निर्गम बिन्दु पर अयन दिशा में संस्कार करने से वास्तविक पूर्व बिन्दु प्राप्त होता है। शेष क्रियाएं पूर्वोक्त विधियों के अनुसार ही यहां भी होती हैं तथा पूर्वापर रेखा के समानान्तर वास्तविक रेखा का निर्माण हो जाता है। अब पुनः इस पूर्वापर रेखा के समानान्तर इष्ट रेखा के छाया वृत्त में स्थित पूर्व एवं पश्चिम दोनों प्रान्तों (छोर) को केन्द्र बनाकर पूर्वापर समानान्तर रेखा तुल्य व्यासार्द्ध से दो वृत्तों का निर्माण करेंगे। अब इन दोनों वृत्तों का जिन दो स्थलों पर परस्पर सम्पात होगा इन दोनों सम्पात बिन्दुओं में गई हुई एक रेखा करेंगे, यह रेखा दिग्ज्ञापक इस वृत्त के केन्द्र से होकर जाती हुई पूर्वापर के समानान्तर स्थित सूत्र पर लम्ब रूप में स्थित होकर इसे आधा करती हुई याम्योत्तर रेखा वृत्त परिधि में उत्तर एवं दक्षिण तरफ जिन दो स्थानों में वृत्त परिधि को स्पर्श करेगी उन दोनों बिन्दुओं से उत्तर एवं दक्षिण दिशा का बोध होगा। इस प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर एवं दक्षिण इन चार दिशाओं का ज्ञान होने के बाद आप इनकी सहायता से विदिशा (कोण की दिशा) का ज्ञान करेंगे। ये पूर्वादि चारों दिशाएं परस्पर 90–90 अंश के अन्तर पर सिद्ध होती हैं। अतः इन दो–दो दिशाओं के मध्य 45–45 अंश के अन्तर पर कोण की चारों दिशाएं क्रमशः पूर्व और दक्षिण के मध्य आग्नेय, दक्षिण और पश्चिम के मध्य नैऋत्य, पश्चिम–उत्तर के मध्य वायव्य तथा उत्तर–पूर्व के मध्य ईशान दिशा सिद्ध होती हैं। ऊपर बताए हुए क्रम में इन कोण की दिशाओं का ज्ञान करने के लिए आसन्नवर्ती किसी भी दो दिशाओं की बिन्दुओं से मत्स्य चाप द्वारा दिग्ज्ञापक वृत्त में इनका ज्ञान हो जाएगा। जैसे वृत्त में स्थित पूर्व एवं दक्षिण बिन्दु को केन्द्र मानकर पूर्वोक्त विधि से मत्स्य चाप द्वारा आग्नेय एवं वायव्य तथा पूर्व एवं उत्तर बिन्दुओं के केन्द्र से ईशान तथा नैऋत्य कोण की दिशा इस वृत्त में निश्चित होगी। इस नियम द्वारा निर्मित निम्नांकित क्षेत्र को देखने से उपर्युक्त सभी विषय सरलतापूर्वक मानस पटल पर अंकित हो जायेंगे–

क्षेत्र–

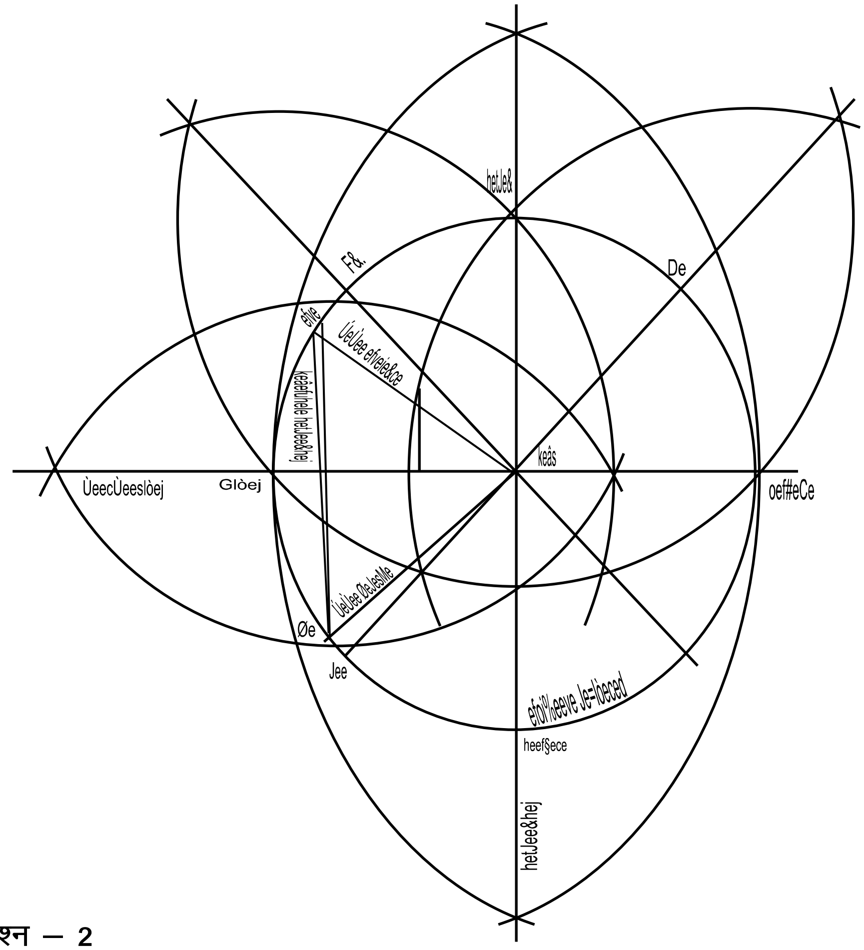

अभ्यास प्रश्न – 2

(1) सूर्य विषुवत रेखा से कितना अंश उत्तर और दक्षिण जाता है?

(क) 12^0 । 22′ (ख) 24^0 । 10′ (ग) 23^0 । 27′ (घ) 36^0

(2) दिग्ज्ञानार्थ वृत्त का निर्माण किस त्रिज्या से होता है?

(क) शंकु त्रिज्या से (ख) पूर्णज्या से

(ग) क्रान्तिज्या से (घ) सप्तांगुलज्या से

(3) छाया प्रवेश किस दिशा में होती है?

(क) पूर्व (ख) पश्चिम (ग) उत्तर (घ) दक्षिण

(4) सबसे छोटी छाया कब होगी?

(क) सूर्योदय काल में (ख) सूर्यास्त काल में

(ग) अपराह्ण काल में (घ) मध्याह्न काल में

(5) किन राशियों में सूर्य उत्तरायण होता है?

(क) मेषादि छः राशियों में (ख) कर्कादि छः राशियों में

(ग) मकरादि छः राशियों में (घ) तुलादि छः राशियों में

(6) जिस अक्षक्षेत्र में लम्बज्या भुज तथा अक्षज्या कोटि हो वहाँ कर्ण क्या होगा?

(क) कुज्या (ख) त्रिज्या (ग) चरज्या (घ) अग्रा

(7) क्षितिज वृत्त में पूर्वापर और अहोरात्र वृत्त के बीच होती है–

(क) अग्रा (ख) कुज्या (ग) अन्त्या (घ) क्षितिज्या

(8) दक्षिण–पश्चिम दिशा के बीच कोण होता है?

(क) ईशान (ख) आग्नेय (ग) नैऋत्य (घ) वायव्य

इसके अतिरिक्त भी आचार्यों ने अनेक सूक्ष्म विधियों का वर्णन दिग्साधनार्थ अपने सिद्धान्त ग्रन्थों में किया है। जैसे–

5.7 सूक्ष्म दिक् साधन की अन्य विधियाँ –

आचार्यों नें इस भूमि पर लंका–यमकोटि–रोमकपत्तन–सिद्धपुर–सुमेरु तथा कुमेरु इन छः स्थानों की कल्पना की है जिसके द्वारा भूपृष्ठ पर किसी की भी स्थिति निर्धारित होती है, ये सभी छः स्थान परस्पर 90–90 अंश के अन्तर पर चिह्नित हैं इनमें लंका को भूमि का मध्य माना गया है। इसके पूर्व में 90 अंश पर यमकोटि, लंका से पश्चिम में 90 अंश पर रोमकपत्तन, 180 अंश नीचे सिद्धपुर, दक्षिण में कुमेरु तथा उत्तर में सुमेरु स्थित है। अतः पृथ्वी के गोल होने के कारण समस्त भूपृष्ठस्थ वासियों के लिए उत्तर दिशा में सुमेरु तथा दक्षिण दिशा में कुमेरु सिद्ध होता है। जैसा कि कमलाकर भट्ट ने कहा है–

यद्वाध्रुवादेव सदोत्तरा दिक् ज्ञेयान्यदिग्ज्ञानमतः सुबोधम्।।

अर्थात् नाड़ीवृत्त से उत्तरी गोलार्ध में स्थित स्थान जहाँ का उत्तरी अक्षांश होता है वहाँ से आकाशस्थ उत्तरी ध्रुव सर्वदा सबके उत्तर में स्थित दिखाई देता है। अतः ध्रुव का वेध कर भी सरलतया सूक्ष्म उत्तर दिशा तथा इसकी सहायता से अन्य दिशा–विदिशाओं का ज्ञान हो सकता है। अर्थात् किसी ऋजु नलिका के द्वारा आकाशस्थ ध्रुव का वेध करेंगे तथा वेधकाल में उस नलिका का अग्रभाग जिस दिशा में होती है वह उत्तर दिशा तथा नलिका का मूल

जहाँ होता है वह दक्षिण बिन्दु होता है। पुनः पूर्वोक्त नियमानुसार मत्स्य चाप के द्वारा पूर्व, पश्चिम एवं कोण दिशाओं का ज्ञान हो जाएगा। वर्तमान समय में दिग्ज्ञानार्थ निर्मित आधुनिक कम्पासादि यन्त्र भी इसी ध्रुवाकर्षण के सिद्धान्त पर ही आधारित होकर दिशाओं का बोध कराते हैं। इसके अतिरिक्त भी त्रिप्रश्नाधिकार में प्रतिपादित नियमों से शंकु यन्त्र द्वारा भुज और कोटि का ज्ञान कर दिग्ज्ञान किया जा सकता है क्यों कि भुज सर्वदा याम्योत्तर तथा कोटि पूर्वापर रूप में बनती है।

जैसे–

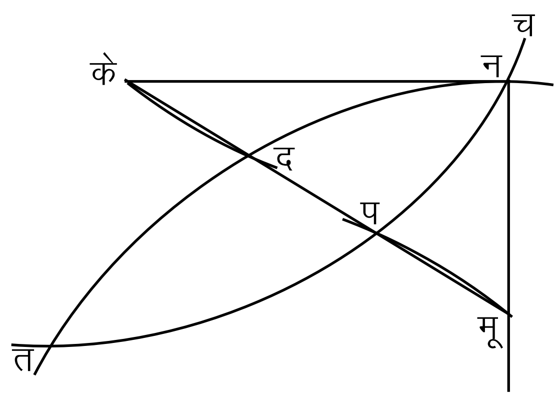

के = दिग्ज्ञापक वृत्त का केन्द्र

मू = शंकु मूल

मू के = इष्टच्छाया

यहाँ शंकु को दिग्ज्ञान के लिए ऐसे स्थापित करेंगे कि इसकी छाया का अग्र भाग वृत्त के केन्द्र में पड़े। यहाँ इष्टच्छाया के अग्र स्थान 'के' को केन्द्र मानकर इष्टदिशा की भुज व्यासार्द्ध से ''च न प त'' वृत्तखण्ड का निर्माण कर पुनः शंकुमूल रूपी 'मू' केन्द्र से भी इष्ट कोटि व्यासार्द्ध द्वारा 'त द न' वृत्तखण्ड का निर्माण करेंगे। इन दोनों वृत्तखण्डों का जहां पर सम्पात हो उस 'न' बिन्दु से वृत्त केन्द्र ''के'' एवं शंकु के मूल बिन्दु 'मू' तक 'न के' और 'न मू' दो रेखा करेंगे। इन दोनों रेखाओं में 'न के' रेखा भुज रूप में दक्षिणोत्तर तथा 'न मू' रेखा कोटि रूप में पूर्वापर दिशा को सूचित करेगी। इसके अतिरिक्त भी सिद्धान्त ग्रन्थों में दिग्ज्ञान की अनेक सूक्ष्म विधियाँ वर्णित हैं। इन ग्रन्थों में वर्णित विधियों के अनुसार ही नहीं अपितु अपनी मेधा से उत्पन्न अन्य सूक्ष्म विधि द्वारा भी दिग्ज्ञान का आदेश आचार्यों ने किया है। यथा–

सचुम्बकादेवसुशिल्पविज्ञाः कुर्वन्ति दिग्ज्ञानमिहान्यथैव।

पूर्वापरा यात्र कृतप्रकारैर्ज्ञेया बुधैः सा समसण्डलीया।।

अभ्यास प्रश्न – 3

(1) भुज की दिशा क्या होती है?

(क) पूर्वापर (ख) याम्योत्तर (ग) उर्ध्वाधर (घ) सभी दिशाओं में

(2) कोटि की दिशा क्या है?

(क) पूर्वापर (ख) याम्योत्तर (ग) उर्ध्वाधर (घ) सभी दिशाओं में

(3) ध्रुववेध के समय नलिका का मूल किस दिशा में होता है?

(क) पूर्व (ख) पश्चिम (ग) उत्तर (घ) दक्षिण

5.8 सारांश–

पूर्वादि व्यवहार हेतु निर्धारित स्वरूप ही दिशा है। ये दिशाएं पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान, उर्ध्व एवं अधः के भेद से दश प्रकार की होती है। इनका सामान्य ज्ञान सूर्योदय एवं सूर्यास्त के द्वारा किया जाता है क्यों कि सूर्योदय सर्वदा पूर्वासन्न एवं सूर्यास्त पश्चिमासन्न दिशा में होता है। परन्तु गणित एवं अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों में सूक्ष्म दिग्ज्ञान की आवश्यकता होती है। अतः आचार्यों ने सूक्ष्म दिग्ज्ञान की अनेक विधियाँ अपने सिद्धान्त ग्रन्थों में प्रतिपादित की हैं जिसके अन्तर्गत किसी समतल भूमि में एक वृत्त का निर्माण करते हुए उसके केन्द्र में एक बारह अंगुल का शंकु स्थापित कर सूर्योदय एवं सूर्यास्त के आसन्न काल में उस वृत्तकेन्द्र में स्थापित शंकु की छाया के दिग्ज्ञानार्थ निर्मित वृत्त की परिधि में प्रवेश करने एवं वृत्त परिधि से बाहर निकलने के स्थान को चिह्नित कर इन दोनों बिन्दुओं में गई हुई रेखा करने से पूर्वापरासन्न दिशा का तथा इसमें क्रान्त्यन्तर जन्य संस्कार करने से सूक्ष्म पूर्वापर दिशा का ज्ञान हो जाता है। पूर्वापर दिशा का ज्ञान कर पुनः इन पूर्व एवं पश्चिम बिन्दुओं की सहायता से मत्स्य चाप द्वारा याम्योत्तर तथा इन चारों दिशाओं की सहायता से कोण की विदिशाओं का ज्ञान होता है। वर्त्तमान समय में कम्पासादि आधुनिक यन्त्र सूक्ष्म दिग्ज्ञानार्थ प्रयुक्त होते हैं।

मत्स्य चापज्ञानार्थ सरलक्षेत्र–

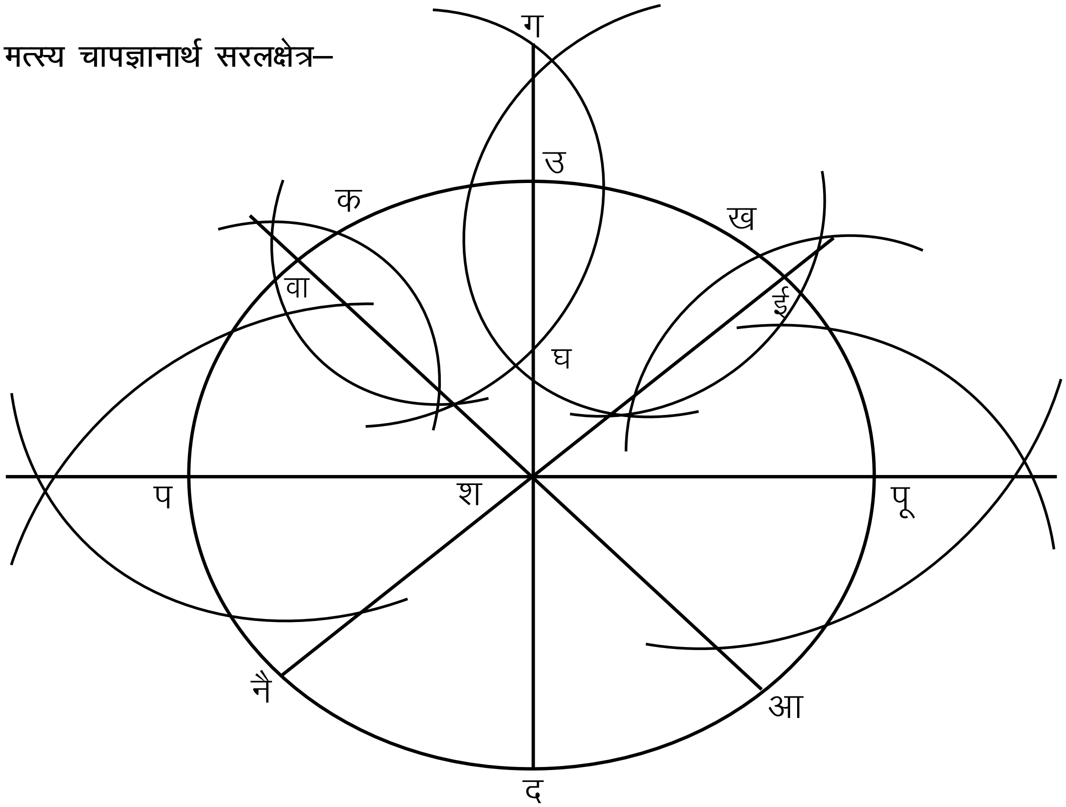

5.9 पारिभाषिक शब्दों के अर्थ–

देशान्तर = स्वरेखादेश से अपने देश का पूर्वापर अन्तर।

वेध = नग्न चक्षु या किसी यन्त्र की सहायता से ग्रहों को देखना।

मत्स्य चाप = एक सरल रेखा में स्थित किन्हीं दो बिन्दुओं से अभीष्ट व्यासार्ध द्वारा दो वृत्तखण्डों के परस्पर सम्पात द्वारा निर्मित क्षेत्र।

सुमेरु = भूपृष्ठ पर उत्तरी ध्रुव का स्थान।

ऋजु = सरल।

शंकु = 12 अंगुल का यन्त्र विशेष।

क्रान्तिज्या = नाड़ीवृत्त से सूर्य के उत्तर एवं दक्षिण भ्रमण वृत्त का ज्यात्मक मान।

लम्बज्या = लम्बांश की ज्या (90^0 – अक्षांश = लम्बांश)।

अक्षज्या = अक्षांश की ज्या।

पलकर्ण = द्वादशांगुल कोटि एवं पलभा भुज के वर्गयोग मूल से उत्पन्न कर्ण।

अक्षक्षेत्र = गोल में निर्मित चापीय जात्य त्रिभुज जिसका एक कोण अक्षांश के तुल्य हो।

5.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

अभ्यास प्रश्न – 1 का उत्तर

(1) – (घ) यात्रा
(2) – (ग) 10
(3) – (क) आशा
(4) – (ख) पश्चिम
(5) – (ख) सूर्य
(6) – (घ) इन सभी के

अभ्यास प्रश्न – 2 का उत्तर

(1) – (ग) 23^0। 27′
(2) – (क) शंकु त्रिज्या से
(3) – (ख) पश्चिम
(4) – (घ) मध्याह्न काल में
(5) – (ग) मकरादि छः राशियों में
(6) – (ख) त्रिज्या
(7) – (क) अग्रा
(8) – (ग) नैऋत्य

अभ्यास प्रश्न – 3 का उत्तर

(1) – (ख) याम्योत्तर
(2) – (क) पूर्वापर
(3) – (घ) दक्षिण

5.11 सहायक ग्रन्थ सूची–

1. सूर्यसिद्धान्त
2. सिद्धान्त शिरोमणि
3. सिद्धान्ततत्त्वविवेक
4. ज्योतिष–सिद्धान्त–मंजूषा

5.12 अभ्यासार्थ व्याख्यात्मक प्रश्न–

1. दिशाओं का परिचय दें।
2. दिग्ज्ञान की प्राचीन एवं अर्वाचीन विधियों पर प्रकाश डालें।
3. सूक्ष्म दिक् साधन विधि लिखें।
4. दिग्ज्ञान की उपयोगिता निरूपित करें।